गृहस्थ धर्म परिचायिका

-: लेखक :-

स्व. डॉ. त्रिलोकीनाथ जी क्षत्रिय

“ सम्पादकीय ”

स्व.डॉक्टर त्रिलोकीनाथ जी क्षत्रिय के लिखे साहित्य को विगत लगभग २२ वर्षों से भी अधिक समय से सांतसा पत्रिका एवं पुस्तिकाओं के माध्यम से प्रकाशन करने का मेरा सौभाग्य रहा है। प्रस्तुत पुस्तक की सामग्री आप के द्वारा लिखित अस्तित्व पहचान, परिवार, गृहिणी सफलता के १०१ सूत्र एवं अयोध्या विजय सूत्र नामक आलेखों/पुस्तकों से संगृहीत है।

इस सामग्री को विगत पांच वर्षों पूर्व मैंने सचित्र पुस्तकाकार देकर कुछ प्रतियां रंगीन प्रिंटाऊट निकाल कर परिचितों के विवाह उपलक्ष्य में सप्रेम भेंट के रूप में दी है..!! लोगों द्वारा यह पुस्तक पसन्द की गई और इसके प्रकाशन की मांग बराबर बनी रही थी।

सर्वश्री संजीव जी (सचदेवा) आर्य- रोहतक ने सर्वप्रथम इस के प्रकाशन में रुचि दिखाकर पहल करने तथा श्री नरशीभाई पटेल- मुम्बई, श्री मथुरादास जी- मुम्बई तथा श्री राजेश्वर जी गौड- हैदराबाद, इन सभी महानुभावों के सम्मिलित अर्थ सहयोग से यह पुस्तक प्रकाशित हो पाई है। पाठकों से निवेदन है अपने स्वजनों के विवाह प्रसंग में इस पुस्तक को निमन्त्रण पत्र के साथ वितरण करने की दिशा में सोचें..!!

आर्यवीर

भापा
स्व.डॉ.त्रिलोकीनाथ जी क्षत्रिय

भूमिका

वैदिक जीवन आज भी जिया जा सकता है। वैदिक मानव (जो हर कोई हो सकता है) स्तुति के लिए ऋग्वेद की ऋचाएं, कर्मों के लिए यजुर्वेद की ऋचाएं, विवेक के लिए अथर्ववेद की ऋचाएं तथा आत्मदीप्ति के लिए सामवेद की ऋचाएं उपयोग में लाते ब्रह्म तथा जगत का विज्ञान स्वयं में सिद्ध कर लेता है। वैदिक मानव वाणी में ऋग्वेद विज्ञान, मन में यजुर्वेद- यज्ञ महान, प्राणों में सामवेद- आह्लाद आनन्द तथा इन्द्रियों में अथर्ववेद- कम्पन रहित शान्ति धारण कर लेता है। उसमें वेद रच-पच जाते हैं तथा जीवन में आत्म चैतन्य सरोबार हो उठता है।

वैदिक मानव पांच कोषों- अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय का अनुक्रम से क्रमशः पूर्ण परिष्कार कर लेता है। चारों वाणियों का साक्षात जीवन में अवतरण सिद्ध कर लेता है। वह ऋत की नाभि पर अधिष्ठित हो जाता है इसी से वह सम्यक् शुद्ध तथा पवित्र हो जाता है। (ऋग्वेद१०/१३/३)

इसी प्रकार अथर्ववेद (१/३४/३) के अनुसार वैदिक पुरुष का निकट का रहन-सहन मधुमय होता है। उसका गमन-आगमन मधुमय होता है। उसका दूर का रहन-सहन मधुमय होता है। उसकी वाणी में मधु भरा रहता है। एक शब्द में वह मधु का स्वरूप हो जाता है। ब्रह्म मधु है, वैदिक पुरुष ब्रह्म से स्वयं को भर लेता है। इस प्रकार वैदिक जीवन प्रणाली स्वयं को ब्रह्म से भर लेने की पद्धति है ।

विवाह

अ) विद्या, विनय, शील, रूप, आयु, बल, कुल, शरीरादि का परिमाण यथायोग्य हो जिन युवक युवति का, उनका आपस में सम्भाषण कर माता-पिता अनुमति से गृहस्थ धर्म में प्रवेश विवाह है।

ब) पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके विद्या-बल को प्राप्त करना तथा सब प्रकार के शुभ गुण-कर्म-स्वभावों में जो युवक-युवती तुल्य हों, जब परस्पर प्रीतियुक्त होकर, विधि अनुसार सन्तान उत्पत्ति और अपने वर्णाश्रम अनुकूल उत्तम कर्म करने के लिए स्वचयन आधारित परिवार से जो सम्बन्ध होता है उसे विवाह कहते हैं।

दम्पती

दोनों युगल दम्पती भाव के निम्न लक्षण हैं- १. एक मन यज्ञकर्ता दो। २. स्वस्ति प्रार्थना उपासना द्वारा परमात्मा के निकट एक साथ दौड़ते। ३. ईश्वर आश्रय में ईश्वर के गुणों के अनुरूप सब कार्य करते। ४. विद्वानों के उपदेशों को विस्तार देते या बढ़ाते। ५. शोभन मति वितरित करते। ६. शुभ कर्मों का उपार्जन करते। ७. विविध प्रकार के भोग प्राप्त करते तथा बांटते। ८. विविध सुखों से परिपूर्ण होते। ९. इन सबका सार है कि दोनों अग्निहोत्र प्रिय, धर्म-रूप-समृद्धि सम्पन्न, उदार चित्त अर्थात् दानी, रोम-रोम ज्ञान से ऊर्ध्वगमन युक्त, अवियोगी, सच्चरित्र आभूषण से दैदीप्यमान सहपरिवार पूर्ण होते हैं दम्पती।

गृहस्थाश्रम

गृहस्थाश्रम धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष पथ पर ले जानेवाला अश्व है। यह अविराम गति है। यह प्रशिक्षित गति है। अविनामी विस्तरणशील है। कालवत सर्पणशील है। ज्योति है। तीनों आश्रमों की आधार-वृषा है। उमंग-उत्साह के प्रवाह से पूर्ण है। शिशु के आह्लाद, उछाह का केन्द्र है। वेद प्रचार केन्द्र है। परिवार सदस्यों द्वारा शुभ गमन है। रमणीयाश्रम है। श्रेष्ठ निवास है। श्रेष्ठ समर्पण है। स्वाहा है गृहस्थाश्रम।

गृहस्थाश्रम के उद्देश्य

१) परिवार जन उन्नयन, २) समय क्षारण बचाव, ३) गृहसदस्य कल्याण, ४) अभिवृद्धिकरण अर्थात् परिवार को क्षय होने से बचाना, ५) उल्लंघन कर्ता को दण्ड, ६) सुस्वास्थ्य, ७) पर्यावरण अभिरक्षाण आदि गृहस्थाश्रम के उद्देश्य हैं।

माता

कुल को संतुलित ममता देती, संस्कार दायिनी, निर्माणकर्त्री, मान-पूजा-सत्कार योग्य, अन्न एवं संस्कारों से सन्तानों का मान्य करे जो वह है माता। माता धरती से भी गुरुतर है। गर्भावस्था में अपने 'स्व' से शिशु का पोषण करती, उसे निकटतम सुरक्षितम् रखती उसका अधिकतम हित करती पुरोहितम् है। माता जन्म और उसके बाद भी शिशु को 'अनुसूया' रूप में सुनिर्मित सुशिक्षित भी करती है। माता के उपकारों का बदला चुकाना असम्भव है।

पिता

जो पालन-लालन करता है। 'ओ३म्' जिह्वा पर लिख वाक् देवता जागृत करता है, तथा प्रथम बार शहद चटाकर रस देवता जागृत करता है। ऊंगली पकड़कर चलना सिखाता है। बढ़ते-बढ़ते अपने जीवन अनुभवों से बच्चों का जीवन समृद्ध करता है। पितर अवस्था में अतिथि बन अध्यात्म उपदेश भी देता है। इस प्रकार पालन, रक्षण, संस्कारदाता एवं जनक है पिता।

गुरु

मानवमात्र का नाम द्विज है। जिसका दो बार जन्म हो वह द्विज है। माता प्रथम पुरोहित है, जो प्रथम जन्मदात्री है। यज्ञोपवीत संस्कार तक माता शिशु को निकटतम रखते उसका अधिकतम हित करती है। यज्ञोपवीत संस्कार पश्चात बालक गुरुकुल आश्रम में प्रवेश करता है, जहां आचार्य या गुरु आश्रम व्यवस्था में उसे सतत निकटतम रखते उसका भरण-पोषण, विद्यादान करता है।

अतिथि

अतिथि वह है जो पितर-मातर है अर्थात् पिता या माता के दायित्व से तर गया है। या जिसने वानप्रस्थ या संन्यास लिया है। जो सज्जन है। अनुभव तथा ज्ञानवृद्ध है। बहुश्रुत है तथा वेदवित् है। जिसने जीवन में वेद का सत्तार्थ, ज्ञानार्थ, विचारार्थ एवं लाभार्थ उपयोग किया है और कर रहा है। अर्थात् जो वेदवान् या विद्वान् है। जो यम लोक या अष्टांग योग के यम-नियम-वियम-संयम के आठों लोकों में निवास करता है।

पांच महायज्ञ

(१) ब्रह्मयज्ञ :- वेदादि शास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना, सन्ध्योपासना और योगाभ्यास ब्रह्मयज्ञ है। यह प्रातः व सायं किया जाता है।

(२) देवयज्ञ :- विद्वानों का संग, सेवा, पवित्रता, दिव्य गुणों का धारण, विद्या की उन्नति तथा प्रातः सायं अग्निहोत्र करना देवयज्ञ कहाता है।

(३) पितृयज्ञ :- जिसमें देव अर्थात विद्वान, ऋषि जो पढ़ने पढ़ानेवाले, पितर अथात माता-पिता आदि वृद्ध ज्ञानी और परमयोगियों की सेवा करनी होती है। इसके श्राद्ध और तर्पण ये दो भेद होते हैं। जिस क्रिया से सत्य का ग्रहण किया जाए उसे श्रद्धा और श्रद्धा से किया गया कर्म श्राद्ध है। एवं जिससे जीवित माता-पिता आदि पितर प्रसन्न हों उस कर्म को तर्पण कहते हैं। श्राद्ध तर्पण मृतकों के लिए नहीं अपितु जीवितों के लिए होता है।

(४) बलिवैश्वदेवयज्ञ :- जब भोजन सिद्ध हो तब जो कुछ भोजनार्थ बने उसमें से खट्टा, लवणान्न और क्षार को छोड़कर घृत, मिष्टयुक्त अन्न लेकर चूल्हे से अग्नि अलग धर मन्त्रपूर्वक आहूत करने को बलिवैश्वदेव यज्ञ कहते हैं।

(५) अतिथियज्ञ :- अतिथि उसे कहते है कि जिसकी कोई निश्चित आने की तिथि नहीं। अर्थात् अकस्मात् धार्मिक, सत्योपदेशक, पूर्ण विद्वान्, परमयोगी संन्यासी गृहस्थ के यहां आवे तो उसे पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय जल देकर खानपान तथा उत्तमोत्तम पदार्थों से उसकी सेवा, सुश्रूषा करके उससे सत्योपदेश ग्रहण करें और अपने आचरण सुधारें।

वैदिक जीवन भारती

वैदिक जीवन "सुशतम्-शतात्" है। यह एक ऋजु पथ है। इस ऋजु पथ पर चलने में समय का भान नहीं है। शत वर्ष शत शत क्रतु को इतना बड़ा कर देते हैं कि पलांश में सिमट जाते हैं।

संस्कारों की सोलह ऋत संन्धियों द्वारा समाजीकरण उत्थान है शत वर्ष। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के सतत पुरुषार्थ हैं शतवर्ष। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास सुसमाज तथा व्यक्ति निर्माण हैं शत वर्ष।

वैदिक जीवन में शत वर्ष कदम हैं ऋत्विज गढ़े परान्त सफर के। शत से भी अधिक अदीन सफर है वैदिक जीवन। हर कदम बड़ा हो पूर्व से क्रमशः यही है वैदिक जीवन भारती।

संस्कार

भूषणभूत सम्यकीकरण को संस्कार कहते हैं। देवत्वीकरण तथा समाजीकरण के श्रेष्ठ सांचों में मानव को ढाल कर सुसंस्कृत कर देने का नाम भूषणभूत सम्यक् कृति है। अथवा जिससे शरीर मन बुद्धि आत्मा सुसंस्कृत होने से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष प्राप्त हो सकते हैं तथा जिससे सन्तान योग्य होते हैं उसे संस्कार कहते हैं।

संस्कार के दोषमार्जन, हीनांगपूर्ती तथा अतिशयाधान ये तीन चरण है। गर्भाधान से मृत्यु पर्यन्त जीवन सन्धियों उम्र सन्धियों ऋतु सन्धियों पर सोलह संस्कारों का प्रावधान है। १. गर्भाधान, २. पुंसवन, ३. सीमन्तोन्नयन, ४. जातकर्म, ५. नामकरण, ६. निष्क्रमण, ७. अन्नप्राशन, ८. चूड़ाकर्म, ९. कर्णविध, १०. उपनयन, ११. वेदारम्भ, १२. समावर्तन, १३. विवाह, १४. वानप्रस्थ, १५. संन्यास एवं १६. अन्त्येष्टि ये सोलह संस्कार हैं। इनमें तीन गर्भावस्था सम्बन्धित, नौ ब्रह्मचर्यावस्था सम्बन्धित, क्रमशः एकेक गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास सम्बन्धित तथा अन्तिम संस्कार मरणोपरान्त शरीर पर किया जाता है।

वैदिक सोलह संस्कार

भूषणभूत सम्यकीकरण को संस्कार कहते हैं। अर्थात् जिस क्रिया से शरीर, मन और आत्मा उत्तम हो उसे संस्कार कहते हैं। वैदिक सोलह संस्कार मानव जीवन निर्माण योजना है। संस्कार बीज से कर्मवृक्ष का विस्तार होता है। संस्कार संस्कृति को जन्म देते हैं। संस्कृति का अर्थ है शोभामय सम्यक् कृति। मनुष्य के व्यक्तिगत तथा सामाजिक सर्वाभ्युदय के अनुकूल आचार-विचार ही संस्कारमय वर्णाश्रम प्रणाली का उद्देश्य है। संस्कार रूपी क्रिया से मनुष्य का शरीर और आत्मा सुसंकृत होने से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त हो सकता है। शरीर और आत्मा सुसंस्कृति भावना संस्कार प्रारम्भ में ही है, जब संस्कारी और संस्कारकर्ता ब्रह्म हमारा बिछौना ओढ़ना हो कहकर सत्य, यश, श्री, समृद्धिपूर्ण जीवन की कामना करता है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने संस्कारविधि ग्रन्थ में निम्न सोलह संस्कारों का विधान किया है। १) गर्भाधान संस्कार, २) पुंसवन संस्कार, ३) सीमन्तोन्नयन संस्कार, ४) जातकर्म संस्कार, ५) नामकरण संस्कार, ६) निष्क्रमण संस्कार, ७) अन्नप्राशन संस्कार, ८) चूडाकर्म संस्कार, ९) कर्णविध संस्कार, १०) उपनयन संस्कार, ११) वेदारम्भ संस्कार, १२) समावर्त्तन संस्कार, १३) विवाह संस्कार, १४) वानप्रस्थ संस्कार, १५) संन्यास संस्कार, १६) अन्त्येष्टि संस्कार।

अस्तित्व पहचान संकट प्कमदजपलि बतपेपे विश्वव्यापी संकट है। व्यक्ति का देश, काल, परिस्थिति, सम्बन्ध, स्तर का ध्यान न रखना अस्तित्व पहचान संकट है। वैदिक व्यक्तित्व संकल्पना अस्तित्व पहचान प्रदाता है। इसमें मानव के व्यक्तिगत, सांस्कृतिक, सामाजिक विकास की धारणा एक साथ उसके अस्तित्व में पिरोयी गई है। मानव शरीर को सुखम् रथम् कहा गया है जिसमें आठ चक्र, नौ द्वार, एक सर्वद्वार, दो सुप्त द्वार हैं। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्धि,

ललना, आज्ञा तथा सहस्रार ये अष्ट चक्र; पायु (मलद्वार), उपायु (मूत्रद्वार), मुख, दो आंखें, दो नासिकापुट और दो कर्णरन्ध्र ये नौ द्वार; त्वचा-सर्वद्वार, नाभिरन्ध्र तथा ब्रह्मरन्ध्र ये दो सुप्तद्वार मिलाकर अयोध्यापुरी कहाती है। इसमें एक ज्योतित आवास कोष है। जिसमें पुरी अधिष्ठाता रहता है। यह एक चलता-फिरता रथ है जिसमें कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों के घोडे, मन की लगाम सधे, बुद्धि सारथी नियन्त्रित और आत्म रथी रथ नियन्त्रित करता सवार है। यह सुखं रथम् है। यह एक अस्तित्व पहचान है जो व्यक्ति को सशक्त करता है। वर्तमान मानव का विकास तो पर्याप्त हुआ है। वह विकास सर्वांगणीय नहीं है। भौतिक विकास की दर ने आधिदैविक, आधिभौतिक, आध्यात्मिक विकास को काफी पीछे छोड़ दिया है। विज्ञान की एक लय प्रगति सतत जारी है पर ज्ञान का विकास रुक गया है। ज्ञान विज्ञान से सूक्ष्म है। मानव अस्तित्व में सप्त ऋषि वाक्, प्राण, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, तथा इससे सम्बन्धित व्यवस्था तानना तथा इसका विकास कर मानव सशक्त करना आधिदैविक ज्ञान है। भौतिक संसाधनों को जानना पहचानना तथा उनका सुख हेतु प्रयोग करना विज्ञान है। इस विज्ञान का मानवीय सम्बन्धों के विकास क्षेत्र में उपयोग करना आधिभौतिक ज्ञान है। आधिदैविक पार क्षेत्र मानव तप द्वारा ऋद्धि, सिद्धि, तितिक्षा द्वारा ऋत, शृत, धृत, भृग, ऋण सिद्ध कर मुमुक्षुत्व आत्म क्षेत्र कारण संकल्प शरीरों को मुमुक्षुत्व सिद्धि पा ब्रह्मलय अपने कार्यों में उतारता है। भारतीय संस्कृति को यह मानव अस्तित्व पहचान अभीष्ट है।

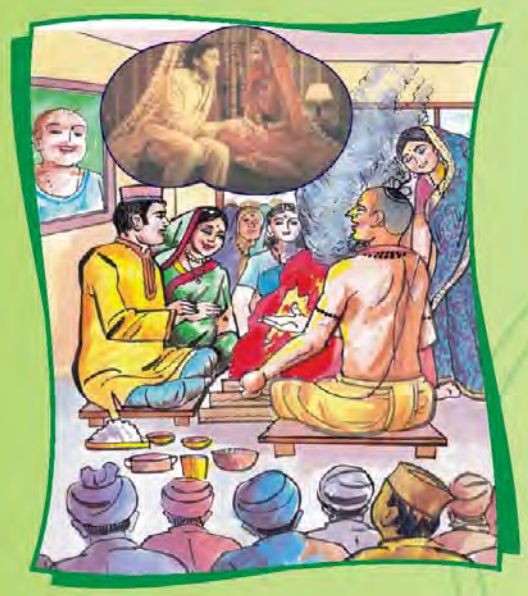

गर्भाधान संस्कार

स्वस्थ सुसंस्कृत युवक एवं युवती जो आयु परिपुष्ट हों सुमन, सुचित्त होकर परिवार हेतु सन्तान प्राप्ति के उद्देश्य से इस संस्कार को करते हैं। वैदिक संस्कृति में गर्भाधान को श्रेष्ठ गुण, कर्म, स्वभाववाली आत्मा को बुलाने के लिए धार्मिक पवित्र यज्ञ माना गया है।

जैसे अच्छे वृक्ष या खेती के लिए उत्तम भूमि एवं बीज की आवश्यकता होती है वैसे ही बालक के शरीर को यथावत बढ़ने तथा गर्भ के धारण पोषण हेतु आयुर्वेद के अनुसार पुरुष की न्यूनतम आयु २५ वर्ष तथा स्त्री की १६ वर्ष आवश्यक होती है।

वैदिक मान्यतानुसार दम्पति अपनी इच्छानुसार बलवान्, रूपवान, विद्वान, गौरांग, वैराग्यवान् संस्कारोंवाली सन्तान को प्राप्त कर सकते हैं। इसके लिए ब्रह्मचर्य, उत्तम खान-पान व विहार, स्वाध्याय, सत्संग, दिनचर्या, चिन्तन आदि विषयों का पालन करना पड़ता है। जिसका विवरण आयुर्वेद विषयक ग्रन्थों में विस्तार से देखा जा सकता है।

गर्भाधान से पहले व गर्भाधान के समय जैसी शारीरिक व मानसिक स्थिति माता-पिता की होती है, उसी का प्रभाव आनेवाले सन्तान (गर्भस्थ आत्मा) पर पड़ता है। इतिहास साक्षी है कि रुक्मिणी के इच्छानुसार भगवान श्रीकृष्ण नें सुसन्तान प्राप्ति के लिए सपत्नीक १२ वर्षों तक एकान्त स्थान पर ब्रह्मचर्य का पालन किया था। अर्थात् ये १२ वर्ष उन्होंने रज-वीर्य की पुष्टि, संस्कारों की श्रेष्ठता आदि गुणों की वृद्धि में लगाए थे। तभी तो उन्हें प्रद्युम्न जैसी अत्युत्तम सन्तान मिली, जो भगवान श्रीकृष्ण सदृश् गुणोंवाली थी।

मानव जीवन की संस्कार अर्थात् दोषमार्जनम्, हीनांगपूर्ति तथा अतिशयाधान इंजीनियरिंग इस प्रकार है- (अ) जन्म पूर्व- १) गर्भाधान :-

(क) गर्भाधान पूर्व- जीव पुरुष के माध्यम से स्त्री में अभिसिंचित होता है। पुरुष में इसका प्रवेश औषध अर्थात् अनाज, वनस्पति अर्थात् फल और आपः अर्थात् प्रवहणशील तत्व जल और प्राण के माध्यम से होता है। जीव का अवतरण यम- वायु (योगसिद्ध वायु) से होता है। इन समस्त की शुद्धि योजना कर समावर्तन तथा विवाह संस्कार से संस्कारित गृहाश्रम प्रविष्ट वर-वधू से पति-पत्नी बने परिपुष्ट आयु, बल, शील, कुल सम बनें। यह गर्भ में जीव के आह्वान की पूर्व योजना है। सुश्रुत संहिता (आयुर्वेद) निर्देशित सर्वोषधी जिसमें दो खंड आम्बा हल्दी, चन्दन, मुरा, कुष्ट, जटामांसी, मोरवेल, शिलाजित, कपूर, मुस्ता, भद्रमोथ, समान मात्रा में लेकर गाय के दूध में उबाल उसकी दही जमा घृत बना (दूध और सर्वोषधी का अनुपात १६:१ होगा) इस घृत के एक सेर में एक रत्ती कस्तूरी, एकेक माशा केसर, एवं जायफल, एक जावित्री मिलाकर इस घी से विधि अनुसार हवन करके यज्ञ अवशेष घी का पत्नी उबटन रूप में प्रयोग कर तथा उपरोक्त घी का भोजन रूप में सेवन करना गर्भ में जीव के आह्वान की तैयारी है। यह भौतिक संस्कार योजना जीव के आह्वान की है। इसके समानान्तर आधिदैविक, आध्यात्मिक योजना के अन्तर्गत विश्व की देव व्यवस्था तथा अध्यात्म व्यवस्था के पवित्रीकरण की मानसिक योजना विशिष्ट हवन मन्त्रों में दी गई है। यह योजना इसलिए आवश्यक है कि इसी व्यवस्था से संस्कारी जीव उतरता है। ये व्यवस्था करने की उपादेयता क्या है ?

यह नियम है कि अपनी संस्कार (जाति, आयु, भोग विपाक-कर्मफल) धारिता के अनुकूल परिस्थितियों में जीवात्मा जन्म लेता है। गर्भाधान प्रक्रिया उत्तम परिस्थितियों के निर्माण की योजना है कि उत्तम संस्कारित जीव उत्पन्न हो।

(ख) गर्भाधान काल- एक प्रहर रात्रि बीतने तथा एक प्रहर रात्रि शेष रहने के मध्य के काल में आरोग्यमय द्वि-तन, अत्यन्त प्रसन्न मन, अतिप्रेममय सम्बन्ध, आह्लाद आभर पति-पत्नी स्थिर संयत शरीर, प्रसन्न वदन, आनन्द पूर्वक गर्भाधान करें। प्रक्षेपण एवं धारण क्रिया सहज सौम्य हो।

(ग) गर्भाधान काल बाद- यह ज्ञात होते ही गर्भाधान हो गया है तो पति-पत्नी दश मास गर्भ के स्वस्थन, परिस्वस्थन, परिपुष्टन, देव-व्यवस्था के उत्तमीकरण की भावना से सने वेद-मन्त्रों से अर्थ सहित ही यज्ञ करें। इसके पश्चात् भोजन व्यवस्था में सम-क्षार, अम्ल, लवणनिग्ध, कमतीता (मिर्च), पुष्टिकारक भोजन आयोजन करे। भोजन ऋतुओं के अनुकूल ही हो।

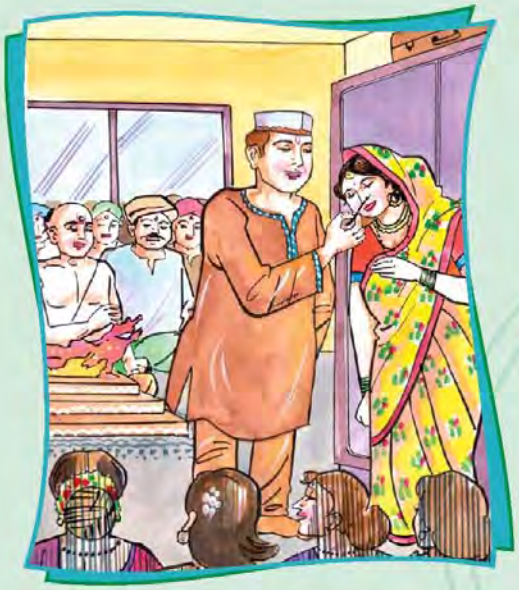

पुंसवन संस्कार

यह संस्कार गर्भावस्था के दूसरे व तीसरे माह में किया जाता है। इसका उद्देश्य गर्भस्थ शिशु को पौरुषयुक्त अर्थात् बलवान, हृष्ट-पुष्ट, निरोगी, तेजस्वी, एवं सुन्दरता के लिए किया जाता है।

चरक संहिता के अनुसार उकडूं बैठने, ऊंचे-नीचे स्थानों में फिरने, कठिन आसन पर बैठने, वायु-मलमूत्रादि के वेग को रोकने, कठोर परिश्रम करने, गर्म तथा तेज वस्तुओं का सेवन करने एवं बहुत भूखा रहने से गर्भ सूख जाता है, मर जाता है या उसका स्राव हो जाता है। इसी प्रकार चोट लगने, गर्भ के किसी भांति दबने, गहरे गड्ढे कुंए पहाड़ के विकट स्थानों को देखने से गर्भपात हो सकता है। तथा सदैव सीधी उत्तान लेटी रहने से नाड़ी गर्भ के गले में लिपट सकती है जिससे गर्भ मर सकता है।

इस अवस्था में गर्भवती अगर नग्न सोती है या इधर-उधर फिरती है तो सन्तान पागल हो सकती है। लड़ने-झगड़ने वाली गर्भवती की सन्तान को मृगी हो सकती है। यदि वो मैथुनरत रहेगी तो सन्तान कामी तथा निरन्तर शोकमग्ना की सन्तान भयभीत, कमजोर, न्यूनायु होगी। परधन ग्रहण की इच्छुक की सन्तान ईर्ष्यालू, चोर, आलसी, द्रोही, कुकर्मी, होगी। बहुत सोनेवाली की सन्तान आलसी, मूर्ख मन्दाग्नीवाली होगी। यदि गर्भवती शराब पीएगी तो सन्तान विकलचित्त, बहुत मीठा खानेवाली की प्रमेही, अधिक खट्टा खानेवाली की त्वचारोगयुक्त, अधिक नमक सेवन से सन्तान के बाल शीघ्र सफेद होना, चेहरे पर सलवटें एवं गंजापनयुक्त, अधिक चटपटे भोजन से सन्तान में दुर्बलता, अल्पवीर्यता, बांझ या नपुंसकता के लक्षण उत्पन्न होंगे एवं अति कड़वा

खानेवाली की सन्तान सूखे शरीर अर्थात् कृश होगी।

गर्भवती स्त्री सदा प्रसन्न रहे, पवित्र आभूषणों को पहने, श्वेत वस्त्र को धारण करे, मन शान्त रखे, सबका भला चाहे, देवता ब्राह्मण गुरु की सेवा करनेवाली बने। मलिन विकृत हीन अंगों को न छूए। बदबूदार स्थानों तथा बुरे दृश्यों से दूर रहे। बेचैनी उत्पन्न करनेवाली बातों को न सुने। सूखे, बासी, सड़े-गले अन्न का सेवन न करे। खाली मकान में जाना, श्मशान में जाना, वृक्ष के नीचे रहना, क्रोध करना, ऊंचे चिल्लाना आदि को छोड़ देवे।

मद करनेवाले खाद्य पदार्थों का सेवन न करे। सवारी पर न चढ़े, मांस न खाए। इन्द्रियां जिस बात को न चाहें उनसे दूर रहे। उक्त बातों का अभिप्राय यह है कि माता की हर बात का प्रभाव उसके सन्तान के शरीर निर्माण पर होता है इसलिए माता का दायित्व है कि सन्तान के शारीरिक विकास को ध्यान में रखते हुए अपने खान-पान, रहन-सहन, आदि व्यवहार को उत्तम बनाए रखे।

यह संस्कार गर्भधारण के दो-तीन माह बाद करते हैं। स्त्री एवं भ्रूण के रक्षार्थ यह संस्कार है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह संस्कार एन्झाइमीकरण के लिए है। इसमें यज्ञ-मन्त्रों की भावना के साथ आनन्द, स्वस्थ देव-व्यवस्था, उत्तम सम-हृदय, सम-प्रजा, हित-मन भावना, अति वर्जन, समाहार चित्त रहने का विधान है। गायत्री, अथर्वदेव, यजुर्वेद, ब्रह्म का हिरण्यगर्भ, सम वर्तमान, सर्वाधार-स्वरूप भाव विशेष धारण करने चाहिएं। वटवृक्ष की जड़, कोंपल तथा गिलोय की गन्ध पिंगला अर्थात् दाहिनी नासिकापुट के चलते समय स्त्री को सूंघाने का विधान है।

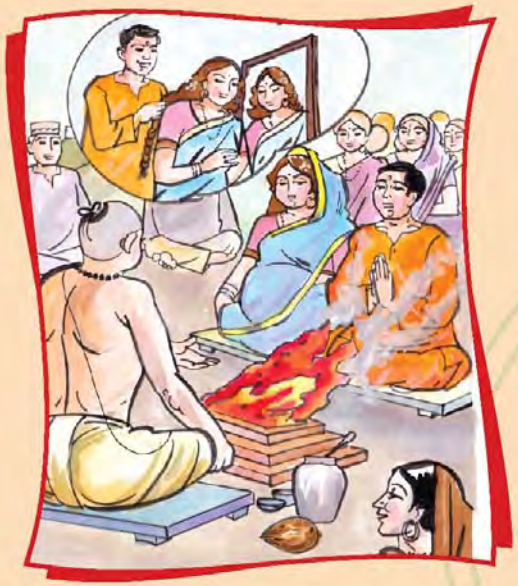

सीमन्तोन्नयन संस्कार

सीमन्त शब्द का अर्थ है मस्तिष्क और उन्नयन शब्द का अर्थ है विकास। पुंसवन संस्कार शारीरिक विकास के लिए होता है तो यह मानसिक विकास के लिए किया जाता है। इस संस्कार का समय गर्भावस्था के चतुर्थ माह, चौथे में न कर पाए तो छठे, इसमें भी नहीं कर पाए तो आठवें माह में कर सकते है।

सुश्रुत के अनुसार पांचवे महिने में मन अधिक जागृत होता है, छठे में बुद्धि तो सातवें में अंग-प्रत्यंग अधिक व्यक्त होने लगते हैं। आठवें माह में ओज अधिक अस्थिर रहता है। इस संस्कार का उद्देश्य है कि माता इस बात को अच्छी प्रकार समझे कि सन्तान के मानसिक विकास की जिम्मेवारी अब से उस पर आ पड़ी है। आठवे महिने तक गर्भस्थ शिशु के शरीर-मन-बुद्धि-हृदय ये चारों तैयार हो जाते हैं। इस समय गर्भिणी को दौहद कहा जाता है। उसके दो हृदय काम करने लगते हैं। यही अवस्था गर्भिणी के लिए सब से खतरनाक अवस्था है। प्रायः आठवें माहोत्पन्न सन्तान जीती नहीं, इसलिए इस अवस्था में स्त्री को सन्तान के शरीर-मन-बुद्धि-हृदय इन सबको स्वस्थ, क्रियाशील बनाए रखने की तरफ विशेष ध्यान देना चाहिए।

यह सुतन अर्थात् उत्तम तन निर्माण व्यवस्था है। इसमें चावल, मूंग, तिल की खिचड़ी में घी डाल कर उससे आहुतियों तथा उसे खाने का विधान है। चावल- शर्करा, मूंग- प्रोटीन, तिल, घी- स्वस्थ वसा यह सम्पूर्ण आहार है। इस संस्कार का आधार "सहस्र पोषण" भी हो सकता है। यह सौभाग्य संस्कार है। सर्वमित्र-भाव, प्रवहणशील, औषध शुद्धि-भाव, उत्तम मति, उत्तम दृष्टि, उत्तम ऐश्वर्य-भाव, ब्रह्मन्याय-आस्था इन भावों के साथ यज्ञकर्म करना है।

जातकर्म संस्कार

शिशु के विश्व प्रवेश पर उसके ओजमय अभिनन्दन का यह संस्कार है। इसमें सन्तान की अबोध अवस्था में भी उस पर संस्कार डालने की चेष्टा की जाती है। माता से शारीरिक सम्बन्ध टूटने पर उसके मुख नाकादि को स्वच्छ करना ताकि वह श्वास ले सके तथा दूध पी सके। यह सफाई सधी हुई दाई से कराएँ। आयुर्वेद के अनुसार सैंधव नमक घी में मिलाकर देने से नाक और गला साफ हो जाते हैं।

बच्चे की त्वचा को साफ करने के लिए साबुन या बेसन और दही को मिलाकर उबटन की तरह प्रयोग किया जाता है। स्नान के लिए गुनगुने पानी का प्रयोग होता है। चरक के अनुसार कान को साफ करके वे शब्द सुन सकें इसलिए कान के पास पत्थरों को बजाना चाहिए।

बच्चे के सिर पर घी में डूबोया हुआ फाया रखते हैं क्योंकि तालु जहां पर सिर की तीन अस्थियां दो पासे की ओर एक माथे से मिलती है वहां पर जन्मजात बच्चे में एक पतली झिल्ली होती है। इस तालु को दृढ़ बनाने इसकी रक्षा करने इसे पोषण दिलाने के लिए ये आवश्यक होता है। इस प्रयोग से बच्चे को सर्दी जुकाम आदि नहीं सताते।

जन्म पश्चात् सम शीतोष्ण वातावरण में शिशु प्रथम श्वास ले। शिशु का प्रथम श्वास लेना अति महत्वपूर्ण घटना है। गर्भ में जन्म पूर्व शिशु के फफ्फुस जल से भारी होते हैं। प्रथम श्वास लेते समय ही वे फैलते हैं और जल से हलके होते हैं। इस समय का श्वसन-प्रश्वसन शुद्ध समशीतोष्ण वातायन में हो। शिशु के तन को कोमल वस्त्र

या रुई से सावधानीपूर्वक साफ-सुथरा कर गोद में लेकर देवयज्ञ करके स्वर्ण शलाका को सममात्रा मिश्रित घी-शहद में डुबोकर उसकी जिह्वा पर ब्रह्म नाम लिखकर उसके वाक् देवता जागृत करे। इसके साथ उसके दाहिने तथा बाएं कान में "वेदोऽसि" यह कहे। अर्थात् तू ज्ञानवाला प्राणी है, अज्ञानी नहीं है। तेरा नाम ब्रह्मज्ञान है। इसके पश्चात् सोने की शलाका से उसे मधु-घृत चटाता उसके अन्य बीज देवताओं में शब्द उच्चारण द्वारा शतवर्ष स्वस्थ अदीन ब्रह्म निकटतम जीने की भावना भरे।

शिशु के दाएं तथा बाएं कान में क्रमशः शब्दोच्चार करते सविता, सरस्वती, इड़ा, पिंगला, सुषुम्णा, मेधा, अग्नि, वनस्पति, सोम, देव, ऋषि, पितर, यज्ञ, समुद्र, समग्र व्यवस्था द्वारा आयुवृद्धि, स्वस्थता प्राप्ति भावना भरे। तत्पश्चात् शिशु के कन्धों को अपनत्व भाव स्पर्श करके उसके लिए उत्तम दिवसों, ऐश्वर्य, दक्षता, वाक् का भाव रखते उसके ब्रह्मचर्य-गृहस्थ-वानप्रस्थ (संन्यास सहित) तथा बल-पराक्रमयुक्त इन्द्रियों सहित और विद्या-शिक्षा-परोपकार सहित (त्र्यायुष-त्रि) होने की भावना का शब्दोच्चार करे। इसी के साथ प्रसूता पत्नी के अंगों का सुवासित जल से मार्जन करता परिशुद्धता ऋत-शृत भाव उच्चारे।

इसके पश्चात् शिशु को कः, कतरः, कतमः याने आनन्द, आनन्दतर, आनन्दतम भाव से सशब्द आशीर्वाद देकर, अपनत्व भावना भरा उसके अंग-हृदय सम-भाव अभिव्यक्त करते हुए उसके ज्ञानमय शतवर्ष जीने की कामना करता उसके शीश को सूंघे। इतना करने के पश्चात् पत्नी के दोनों स्तनों को पुष्पों द्वारा सुगन्धित जल से मार्जन कराकर दक्षिण, वाम स्तनों से शिशु को ऊर्जित, सरस, मधुमय प्रविष्ट कराने दुग्धपान कराए। इसके पश्चात् वैदिक विद्वान् पिता-माता सहित शिशु को दिव्य इन्द्रिय, दिव्य जीवन, स्वस्थ तन, व्यापक-अभय-उत्तम जीवन शतवर्षाधिक जीने का आशीर्वाद दें।

जातकर्म की अन्तिम प्रक्रिया जो शिशु के माता-पिता को करनी है वह है दस दिनों तक भात तथा सरसौं मिलाकर आहुतियां देना।

नामकरण संस्कार

इस संस्कार का उद्देश्य केवल शिशु को नाम भर देना नहीं है, अपितु उसे श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर उच्च से उच्चतर मानव निर्माण करना है। पश्चिमी सभ्यता में निरर्थक नाम रखने का अन्धानुकरण भारत में भी बढ़ता जा रहा है। उनके लिए चरक का सन्देश है कि नाम साभिप्राय होनें चाहिएं। नाम केवल सम्बोधन के लिए ही न होकर माता-पिता द्वारा अपने सन्तान के सामने उसके जीवनलक्ष्य को रख देना होता है।

सन्तान के जन्म के दिन से ग्यारहवें दिन में, या एक सौ एकवें दिन में, या दूसरे वर्ष के आरम्भ में जिस दिन जन्म हुआ हो यह संस्कार करना चाहिए। नाम ऐसा रक्खे कि श्रवण मात्र से मन में उदात्त भाव उत्पन्न करनेवाला हो। उच्चारण में वो कठिन नहीं अपितु सुलभ होना चाहिए। पाश्चात्य संस्कृति में चुम्बन लेने की प्रथा है और ऐसा करने से अनेक प्रकार के संक्रान्त रोग शिशु को हो सकते हैं। जबकि भारतीय संस्कृति में स्पर्श या सूंघने का वर्णन आता है। शिशु को गोद में लेकर उसके नासिका द्वार को स्पर्श करने से इसका ध्यान अपने आप स्पर्शकर्ता की ओर खिंच जाता है।

स्व-नाम श्रवण व्यक्ति अपने जीवन में अधिकतम बार करता है। अपना नाम उसकी सबसे बड़ी पहचान है।

अपना नाम पढ़ना, सुनना हमेशा भला और उत्तम लगता है। इसलिए नाम रखने में 'देवश्रव', 'दिवस ऋत' या 'श्रेष्ठ श्रव' भाव आना चाहिए। मानव अपना नाम सबसे अधिक बार अपने भीतर भरता है। जो मानव भीतर भरता है वही बाहर निकालता है। यह "ब्रडाब्रनि-कडाकनि" सिद्धान्त है। "ब्रह्म डाल ब्रह्म निकाल-कचरा डाल कचरा निकाल" सिद्धान्त के अनुसार नाम हमेशा शुभ ही रखना चाहिए। शुभ तथा अर्थमय नाम ही सार्थक नाम है।

"क: कतम:" सिद्धान्त नामकरण का आधार सिद्धान्त है। कौन हो ?सुख हो, ब्रह्मवत हो। कौन-तर हो ?ब्रह्मतर हो। कौन-तम हो ?ब्रह्मतम हो। ब्रह्म व्यापकता का नाम है। मानव का व्यापक रूप प्रजा है। अतिव्यापक रूप सु-प्रजा है। भौतिक व्यापकता क्रमश: पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक है। इन लोकों के आरोहण के भाव वेद मन्त्रों में हैं। 'वीर' शरीर-आत्म-समाज बल से युक्त युद्ध कुशल व्यक्ति का नाम है। 'सुवीर' प्रशस्त वीर का नाम है जो परमात्म बल शरीर, आत्म, समाज में उतारने में कुशल होता है। सामाजिक आत्मिक निष्ठाओं (यमों) का पालन ही व्यक्ति को श्रेष्ठ ऐश्वर्य देता उसको सु-ऐश्वर्य दे परिपुष्ट करता है। इन भावों से भरा इन्हें कहता पिता शिशु की आती-जाती श्वास को स्पर्श करते हुए उत्तम, सार्थक नाम रखे।

यदि सन्तान बालक है तो समाक्षरी अर्थात् दो अथवा चार अक्षरोंयुक्त नाम रखा जाता है। और इनमें ग घ ङ ज झ ञ ड ढ ण द ध न ब भ म य र ल व इन अक्षरों का प्रयोग किया जाए। बालिका का नाम विषमाक्षर अथात् एक, तीन या पांच अक्षरयुक्त होना चाहिए।

निष्क्रमण संस्कार

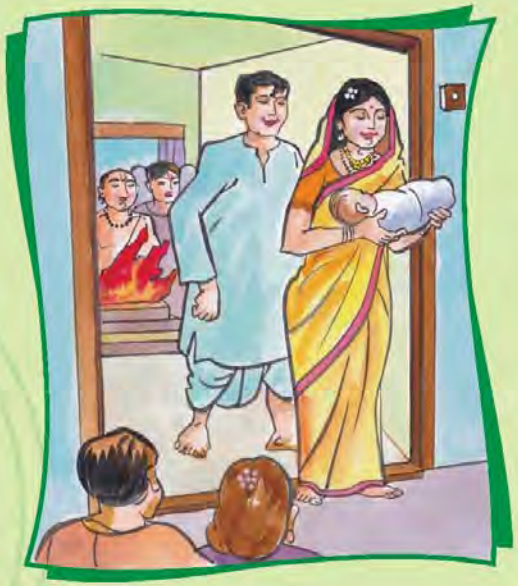

निष्क्रमण का अर्थ है बाहर निकलना। घर की अपेक्षा अधिक शुद्ध वातावरण में शिशु के भ्रमण की योजना का नाम निष्क्रमण संस्कार है। बच्चे के शरीर तथा मन के विकास के लिए उसे घर के चारदीवारी से बाहर ताजी शुद्ध हवा एवं सूर्यप्रकाश का सेवन कराना इस संस्कार का उद्देश्य है। गृह्यसूत्रों के अनुसार जन्म के बाद तीसरे शुक्ल पक्ष की तृतीया अर्थात् चान्द्रमास की दृष्टि से जन्म के दो माह तीन दिन बाद अथवा जन्म के चौथे माह में यह संस्कार करे।

इसमें शिशु को ब्रह्म द्वारा समाज में अनघ अर्थात् पाप रहित करने की भावना तथा वेद द्वारा ज्ञान पूर्ण करने की भावना अभिव्यक्त करते माता-पिता यज्ञ करें। पति-पत्नी प्रेमपूर्वक शिशु के शत तथा शताधिक वर्ष तक समृद्ध, स्वस्थ, सामाजिक, आध्यात्मिक जीने की भावनामय होकर शिशु को सूर्य का दर्शन कराए। इसी प्रकार रात्रि में चन्द्रमा का दर्शन उपरोक्त भावना सहित कराए। यह संस्कार शिशु को आकाश, चन्द्र, सूर्य, तारे, वनस्पति आदि से परिचित कराने के लिए है।

आयुर्वेद के ग्रन्थों में कुमारागार, बालकों के वस्त्र, उसके खिलौने, उसकी रक्षा एवं पालनादि विषयों पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। कुमारागार ऐसा हो जिसमें अधिक हवा न आती हो किन्तु एक ही मार्ग से वायु प्रवेश हो। कुत्ते, हिंसक जन्तु, चूहे, मच्छर, आदि न आ सकें ऐसा पक्का मकान हो। जिसमें यथास्थान जल, कूटने-पीसने का स्थान, मल-मूत्र त्याग के स्थान, स्नानगृह, रसोई अलग-अलग हों। इस कुमारागार में रक्षा के समस्त साधन, मंगलकार्य, होमादि की सामग्री उपस्थित हों। बच्चों के बिस्तर, आसन, बिछाने के वस्त्र कोमल, हल्के पवित्र, सुगन्धित होनें चाहिए। पसीना, मलमूत्र एवं जूं आदि से दूषित कपड़े हटा देवें। बरतन नए हों अन्यथा अच्छी प्रकार धोकर गुग्गुल, सरसौं, हींग, वच, चोरक आदि का धुंआ देकर साफ करके सुखाकर काम में ले सकते हैं। बच्चों के खिलौने विचित्र प्रकार के बजनेवाले, देखने में सुन्दर एवं हल्के हों। वे नुकीले न हों, मुख में न आ सकनेवाले तथा प्राणहरण न करने वाले होनें चाहिए।

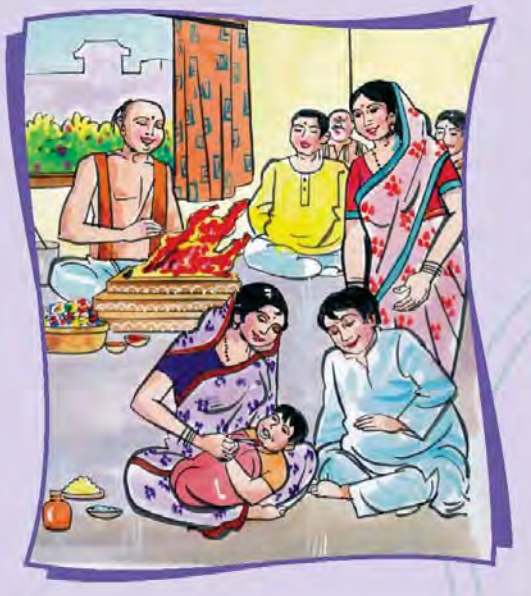

अन्नप्राशन संस्कार

जीवन में पहले पहल बालक को अन्न खिलाना इस संस्कार का उद्देश्य है। पारस्कर गृह्यसूत्र के अनुसार छठे माह में अन्नप्राशन संस्कार होना चाहिए। कमजोर पाचन शिशु का सातवे माह जन्म दिवस पर कराए।

इसमें ईश्वर प्रार्थना उपासना पश्चात् शिशु के प्राण-अपानादि श्वसन व्यवस्था तथा पंचेन्द्रिय परिशुद्धि भावना का उच्चारण करता घृतमय भात पकाना तथा इसी भात से यज्ञ करने का विधान है। इस यजन में माता-पिता तथा यजमान विश्व देवी प्रारूप की अवधारणा के साथ शिशु में वाज स्थापना (शक्तिकरण-ऊर्जाकरण) की भावना अभिव्यक्त करे। इसके पश्चात् पुनः पंच श्वसन व्यवस्था तथा इन्द्रिय व्यवस्था की शुद्धि भावना पूर्वक भात से हवन करे। फिर शिशु को घृत, मधु, दही, सुगन्धि (अति बारीक पिसी इलायची आदि) मय भात रुचि अनुकूल सहजतापूर्वक खिलाए। इस संस्कार में अन्न के प्रति पकाने की सौम्य महक तथा हवन के एन्झाइम ग्रहण से क्रमशः संस्कारित अन्नभक्षण का अनुकूलन है।

माता के दूध से पहले पहल शिशु को अन्न पर लाना हो तो मां के दूध की जगह गाय का दूध देना चाहिए। इस दूध को देने के लिए १५० मि.ग्रा. गाय के दूध में ६० मि.ग्रा. उबला पानी व एक चम्मच मीठा डालकर शिशु को पिला दें। यह क्रम एक सप्ताह तक चलाकर दूसरे सप्ताह एक बार की जगह दो बार बाहर का दूध दें। तीसरे सप्ताह दो बार की जगह तीन बार बाहर का दूध दें, चौथे सप्ताह दोपहर दूध के स्थान पर सब्जी का रसा, थोड़ा दही, थोड़ा शहद, थोड़ा चावल दें। पांचवें सप्ताह दो समय के दूध के स्थान पर रसा, सब्जी, दही, शहद आदि बढ़ा दें। इस प्रकार बालक को धीरे-धीरे माता का दूध छुड़ाकर अन्न पर ले आने से बच्चे के पेट में कोई रोग होने की सम्भावना नहीं रहती।

इस संस्कार पश्चात् कालान्तर में दिवस-दिवस क्रमशः मूंगदाल, आलू, विभिन्न मौसमी सब्जियां, शकरकंद, गाजर, पालक, लौकी आदि (सभी भातवत अर्थात् अति पकी- गलने की सीमा तक पकी) द्वारा भी शिशु का आहार अनुकूलन करना चाहिए। इस प्रकार व्यापक अनुकूलित अन्न खिलाने से शिशु अपने जीवन में सुभक्षण का आदि होता है तथा स्वस्थता प्राप्त करता है। इस संस्कार के बाद शिशु मितभुक्, हितभुक्, ऋतभुक्, शृतभुक् होता है।

चूड़ाकर्म संस्कार

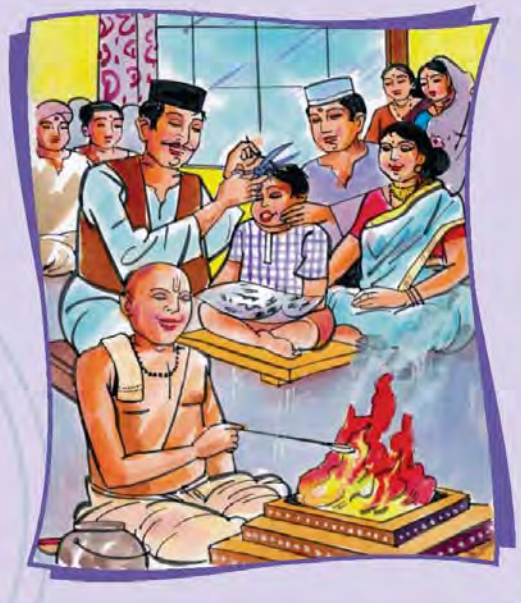

इसका अन्य नाम मुण्डन संस्कार भी है। रोगरहित उत्तम समृद्ध ब्रह्मगुणमय आयु तथा समृद्धि-भावना के कथन के साथ शिशु के प्रथम केशों के छेदन का विधान चूडाकर्म अर्थात् मुण्डन संस्कार है। यह जन्म से तीसरे वर्ष या एक वर्ष में करना चाहिए। बच्चे के दांत छः सात मास की आयु से निकलना प्रारम्भ होकर ढाई-तीन वर्ष तक की आयु तक निकलते रहते हैं।

दांत निकलते समय सिर भारी हो जाता है, गर्म रहता है, सिर में दर्द होता है, मसूड़े सूझ जाते हैं, लार बहा करती है, दस्त लग जाते हैं, आंखे आ जाती हैं, बच्चा चिड़चिड़ा हो जाता है। दांतों का भारी प्रभाव सिर पर पड़ता है। इसलिए सिर को हल्का और ठंडा रखने के लिए सिर पर बालों का बोझ उतार ड़ालना ही इस संस्कार का उद्देश्य है।

बालों को उस्तरे से निकाल देने के निम्न कारण हैं- शिशु गर्भ में होता है तभी उसके बाल आ जाते हैं, उन मलिन बालों को निकाल देना, सिर की खुजली दाद आदि से रक्षा के लिए, सिर के भारी होने आदि से रक्षा के लिए तथा नए बाल आने में सहायक हों, इसलिए मुण्डन कराया जाता है।

इस संस्कार द्वारा बालक में त्र्यायुष भरने की भावना भरी जाती है। त्र्यायुष एक व्यापक विज्ञान है। अ) ज्ञान-कर्म-उपासना त्रिमय चार आश्रम त्र्यायुष हैं। ब) शुद्धि, बल और पराक्रम त्र्यायुष हैं। स) शरीर, आत्मा और समाज त्र्यायुष हैं। द) विद्या, धर्म, परोपकार त्र्यायुष हैं। ई) शरीर-मन-बुद्धि, धी-चित्त-अहंकार आदि अर्थात् आधिदैविक, आधिभौतिक, आध्यात्मिक इन त्रिताप से रहित करके त्रिसमृद्धमय जीवन जीना त्र्यायुष है।

कर्णवेध संस्कार

कान में छेद कर देना कर्णविध संस्कार है। गृह्यसूत्रों के अनुसार यह संस्कार तीसरे या पांचवे वर्ष में कराना योग्य है। आयुवेद के ग्रन्थ सुश्रुत के अनुसार कान के बींधने से अन्त्रवृद्धि (हर्निया) की निवृत्ति होती है। दाईं ओर के अन्त्रवृद्धि को रोकने के लिए दाएं कान को तथा बाईं ओर के अन्त्रवृद्धि को रोकने के लिए बाएं कान को छेदा जाता है।

इस संस्कार में शरीर के संवेदनशील अंगों को अति स्पर्शन या वेधन (नुकीली चीज से दबाव) द्वारा जागृत करके थेलेमस तथा हाइपोथेलेमस ग्रन्थियों को स्वस्थ करते सारे शरीर के अंगों में वह परिपुष्टि भरी जाती है कि वे अंग भद्र ही भद्र ग्रहण हेतु सशक्त हों। बालिकाओं के लिए इसके अतिरिक्त नासिका का भी छेदन किया जाता है।

सुश्रुत में लिखा है- "रक्षाभूषणनिमित्तं बालस्य कर्णौ विध्येते" अर्थात् बालक के कान दो उद्देश्य से बींधे जाते हैं। बालक की रक्षा तथा उसके कानों में आभूषण डाल देना। आजकल यह काम सुनार या कोई भी व्यक्ति जो इस काम में निपुण हो कर देता है। परन्तु सुश्रुत में लिखा है "भिषक् वामहस्तेनाकृष्य कर्णं दैवकृते छिद्रे आदित्यकरावभास्विते शनैः शनैः ऋजु विद्धयेत्"- अर्थात् वैद्य अपने बाएं हाथ से कान को खींचकर देखे, जहां सूर्य की किरणें चमकें वहां-वहां दैवकृत छिद्र में धीरे-धीरे सीधे बींधे। इससे यह प्रतीत होता है कि कान को बींधने का काम ऐसे-वैसे का न होकर चिकित्सक का है। क्योंकि कान में किस जगह छिद्र किया जाय यह चिकित्सक ही जान सकता है।

उपनयन संस्कार

इस संस्कार में यज्ञोपवीत या जनेऊ धारण कराया जाता है। इसके धारण कराने का तात्पर्य यह है कि बालक अब पढ़ने के लायक हो गया है, और उसे आचार्य के पास विद्याध्ययन के लिए व्रत सूत्र में बांधना है। यज्ञोपवीत में तीन सूत्र होते हैं जो तीन ऋणों के सूचक हैं। ब्रह्मचर्य को धारण कर वेदविद्या के अध्ययन से "ऋषिऋण" चुकाना है। धर्मपूर्वक गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर सन्तानोत्पत्ति से "पितृऋण" और गृहस्थ का त्याग कर देश सेवा के लिए अपने को तैयार करके "देवऋण" चुकाना होता है। इन ऋणों को उतारने के लिए ही क्रमशः ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ आश्रम की योजना वैदिक संस्कृति में की गई है।

बालक-बालिका के पढ़ने योग्य अर्थात् पांचवे से सातवे वर्ष तक यह संस्कार करना उचित है। इस संस्कार के पूर्व बालक को आर्थिक सुविधानुसार तीन दिवस तक दुग्धाहार, श्रीखंडाहार, दलियाहार, खिचड़ी-आहार इन में से किसी एक का चयन कर उसी का सेवन कराना चाहिए।

इस संस्कार में आचार्य की पुरोहितम् भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आचार्य हरहित चाहती सम्भ्रान्त महिलावत अर्थात् जलवत बच्चे की कल्याण की भावना से उसका यज्ञोपवीत कराए। आचार्य की भावना श्रेष्ठ ही श्रेष्ठ बच्चे को बनाने की होनी चाहिए। वह विभिन्न देव भावों से बालक के जीवन को भरने का संकल्प लेते यज्ञोपवीत संस्कार कराता है।

यज्ञोपवीत की महान् शर्त यह है कि आचार्य तथा बच्चा सम-हृदय, सम-चित्त, एकाग्र-मन, सम-अर्थ-सेवी हो। लेकिन इस सब में आचार्य आचार्य हो तथा शिष्य शिष्य हो। आचार्य परिष्कृत बचपन द्वारा बालक के सहज बचपन का परिष्कार करे। यह महत्वपूर्ण शर्त है। आचार्य बच्चे के विकास के विषय में सोचते समय अपनी बचपनी अवस्था का ध्यान अवश्य ही रखे। इस संस्कार के द्वारा आचार्य तथा बालक शिक्षा देने-लेने हेतु एक दूसरे का सम-वरण करते हैं। यह बिल्कुल उसी प्रकार होता है जैसे मां गर्भ में अपने शिशु का और शिशु अपनी मां का वरण करता है।

वेदारम्भ संस्कार

यह उपनयन के साथ-साथ ही किया जाता है। इस संस्कार को करके वेदाध्ययन प्रारम्भ किया जाता था। इसमें बालक में सुश्रव, सुश्रवा, सौश्रवस होने तथा इसके बाद यज्ञ की विधि, फिर वेद की निधि पाने की भावना होती है। यह संस्कार महान् अस्तित्व पहचान संस्कार है। इसे संस्कारों का संस्कार कह सकते हैं। इस संस्कार द्वारा बालक में आयु, मेधा, वर्चस्, तेज, यश, समिध्यस्, ब्रह्मवर्चस्, अस्तित्व, संसाधन, त्व आदि भाव जागृत किए जाते हैं। इस संस्कार में मत कर निर्देश दोष मार्जनम्, कर निर्देश हीनांगपूर्ति तथा भाव जागृति अतिशयाधान रूप में है।

ऊपर दिए अतिशयाधान के साथ-साथ अग्नि के दिव्यदा स्वरूपों से अनेक दिव्यों की आकांक्षा करते हैं। तथा हर बालक वाक्, प्राण, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, की इन्द्रियों की परिपूर्णता के साथ-साथ इनमें यश, बल भाव आभर होने के मन्त्र ओ३म् वाक् वाक् रूप में कहता है। फिर बालक आचार्य से सम्पूर्ण चेतना अस्तित्व एवं सावित्री तीन महाव्याहृति के निकटतम कर देने की आकांक्षा करता है। आचार्य बालक से विशिष्ट शाखा विधि से गायत्री मन्त्र का तीन पदों, तीन महाव्याहृतियों या सावित्री क्रम में निम्नलिखित अनुसार पाठ कराता है। प्रथम बार- ओ३म् भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यम्। द्वितीय बार- ओ३म् भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यम् भर्गो देवस्य धीमहि। तृतीय बार- ओ३म् भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यम् भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।।

यह पाठ धीरे-धीरे कराया जाता है। इसके पश्चात् निम्नलिखित रूप में उसका संक्षेप में अर्थ बताया जाता है। सम्पूर्ण अर्थ प्रक्रिया भी उपरोक्त त्रि टुकड़ों में सिखाने का नियम है।

ओ३म् :- ब्रह्म का श्रेष्ठ नाम इस के साथ हर नाम लग जाता है। भूः :- अस्तित्व का अस्तित्व- प्राण का प्राण। हीनांगपूर्त। भुवः :- सर्व दुःख निवारक- खराब इन्द्रियपन निवारक। दोष मार्जन। स्वः :- आनन्द दा। अतिशयाधान। सवितुः :- उत्पत्तिकर्ता, धारक, पालक, ऐश्वर्य दा। देवस्य :- सप्तर्षि- सप्त देव, सप्त ब्रह्मभाव का। प्रकाश के समान सातों का एक भाव। वरेण्यम् :- वरण करने योग्य।

तत् :- वह-यह-व्यापक तेज। धीमहि :- धारण से सिद्ध कर धी में उतारे, ध्यान सिद्ध करे। यः :- यह-वह परमात्मा। नः :- हमारी। धियः :- चित्तवृत्तियों को।

प्रचोदयात् :- प्रकृष्ट गुण, कर्म, रक्त चयापचय स्व भाव में प्रेरित करे।

उपरोक्त शाखा विधि से त्रि पाठ तथा अर्थ एक महान् अध्ययन या स्मरण योजना है। इसके प्रारूप इस प्रकार हैं। (अ) मन्त्र या बीज का ज्ञान। (ब) क्षैतिज (समानान्तर) हॉरिझोण्टल अध्ययन। (स) ऊर्ध्व (वर्टिकल) अध्ययन। (द) तीर्यक् अध्ययन। (ई) आयतनिक अध्ययन।

इसके पश्चात् आचार्य बालक हेतु वस्त्र, संसाधन आदि की व्यवस्था करे। फिर उसे न करना, करना निर्देश पिता दे।

न करना

दुष्ट-कर्म, अधर्म, दुराचार, असत्याचरण, अन्यायाचरण एवं हर्ष-शोकादि, आचार्य के अधर्माचरण एवं कथन, क्रोध, मिथ्याभाषण, अष्टमैथुन- स्त्री-ध्यान, कथा, स्पर्श, क्रीड़ा, दर्शन, आलिंगन, एकान्तवास एवं समागम, गाना-बजाना-नृत्य (फिल्मी), गंध, अंजन सेवन, अतिस्नान, अतिभोजन, अतिनिद्रा, अतिजागरण, निन्दा, लोभ, मोह, भय, शोक, मांसभक्षण, शुष्क अन्न, धचकेदार सवारी, मर्दन, उबटन, अतितीक्ष्ण, अतिखट्ट, अतिलवण एवं क्षारयुक्त भोजन, मान-सम्मान की आशा, करना।

संध्या-उपासना, भोजन पूर्व आचमन, धर्मक्रिया, नित्य वेद को सांगोपांग पढ़ना, पुरुषार्थ करना, भूमि (दृढ़ आधारतल) पर शयन, रात्रि के चौथे प्रहर (ब्राह्म-मूहुर्त) जागरण, शौच, दन्तधावन, योगाभ्यास, ऊर्ध्वरिता बनना, युक्ताहार-विहारसेवी, विद्याग्राहिता, सुशीलता, अल्पभाषी, सभा के आचरण, अग्निहोत्र, अभिवादन, दस इन्द्रियों एवं ग्यारहवें मन को संयम में रखना,

यम-सेवन पूर्वक नियमों का आचरण, सामाजिक-नैतिक-व्यक्तिगत नियमों का पालन, चतुर्वेदी बनना, न्याय-धर्माचरण सहित कर्म, श्रेष्ठाचार, श्रेष्ठ दान एवं सत्यधारण, न्यायाचरण।

इन निर्देशों के पश्चात् विद्यार्थी को चौदह विद्याओं जो कि बीज रूप हैं का क्रमबद्ध उत्तरोत्तर अभ्यास एक ही आचार्य द्वारा अपने आश्रम में रखकर करवाना चाहिए। इन विद्याओं के ग्रन्थ हैं-

(१) ६ अंग :- १) शिक्षा, २) कल्प, ३) व्याकरण, ४) निरुक्त, ५) छन्द, ६) ज्योतिष। आधार पुस्तकें- पाणिनि मुनिकृत अष्टाध्यायी तथा लिंगानुशासन, पतंजलि मुनिकृत महाभाष्य, यास्क मुनिकृत निघण्टु एवं निरुक्त, कात्यायन आदि मुनिकृत कोश, आप्त मुनिकृत त्रि-शब्दार्थ विधि, पिंगलाचार्यकृत छन्द ग्रन्थ, यास्कमुनिकृत काव्यालंकार सूत्र- वात्स्यायन मुनिकृत भाष्य, आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति, तात्पर्य और अन्वयार्थ सहित अंक गणित, वैदिक विदुरनीति तथा मनुस्मृति एवं वाल्मिकी रामायण।

(२) ६ उपांग :- आधार पुस्तकें- अ) जैमिनीकृत मीमांसा, ब) कणादकृत वैशेषिक, स) गौतमकृत न्याय, द) व्यासकृत वेदान्त, ई) पतंजलिकृत योग, फ) कपिलकृत सांख्य तथा इनसे अन्तर्सम्बन्धित दस उपनिषदें- ईश, कठ, केन, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक।

(३) चार वेद :- आधार संहिता पुस्तकें- ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद। पठनविधि- इन संहिताओं में स्थित मन्त्रों को छन्द, स्वर, पदार्थ, अन्वय, भावार्थ क्रम से पढ़ना। इन वेदों के पढ़ने में सहायक ग्रन्थ हैं- आश्वलायनकृत श्रौत गृह्य तथा धर्म सूत्र। इन की शाखाएं हैं- ऐतरेय, शतपथ, ताण्डय, तथा गोपथ ब्राह्मण।

(४) चार उपवेद :- आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद, अर्थवेद। आयुर्वेद में चरक संहिता, सुश्रुत संहिता, भावप्रकाश निघण्टु, धनुर्वेद में अंगिराकृत लक्ष्यविद्या, गन्धर्ववेद में नारद संहितादि में स्वर, रागिणी, समय, वादित्र, ताल, मूर्छनादि का विवरण तथा अर्थवेद में विश्वकर्मा, त्वष्टा तथा मयकृत शिल्प के संहिता ग्रन्थों का समावेश है। इस के साथ भरतमुनिकृत नाट्य शास्त्र मिलाकर सम्पूर्ण सांगोपांग वेदाध्यायन प्रक्रिया है। इस अध्ययन में वेद अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में कुछ अंश अवैदिक मिलावट आ गई है।

अत: ऐसे स्थलों पर वेदानुकूलता से प्रमाण मानना चाहिए। वर्तमान में उपलब्ध वेद भाष्य पढ़ते समय भी शब्दार्थ सम्बन्ध में इस तथ्य का ध्यान रखना चाहिए।

उपरोक्त ज्ञान बीज ज्ञान है। वर्तमान में इन बीजों का पर्याप्त विकास, उपयोग, विधान तथा विज्ञान विकसित किया जा चुका है। समझदार बहुज्ञ आचार्य को इस विकास का जानकार होना चाहिए तथा पाठन में इन बीज ज्ञानों को पढ़ाते समय सन्दर्भित नव विकास से भी विद्यार्थियों को अवगत कराना चाहिए। उपरोक्त सम्पूर्ण संस्कृत ग्रन्थों की रचना में अपवाद स्वरूप कुछ मिलावट छोड़कर "वैदिक वैज्ञानिक विधि" का प्रयोग हुआ है अत: समग्र ज्ञानभण्डार वैज्ञानिक तो है ही साथ ही साथ नैतिक सत्य से आपूर्त भी है।

यह वह शिक्षा पद्धति है जो सांतसा है। इस में जीवन को सांस्कृतिक तकनीकी सामाजिक बीज ज्ञान दिया जाता है। चार मूल वेद संहिताओं के माध्यम से 'वेद-ज्ञान' तथा चारों उपवेदों के माध्यम से 'विद-ज्ञान' प्राप्त कराया जाता है। इसमें बचपन से युवावस्था तक एक ही ज्ञानधारा जो निश्चित लक्ष्य, निश्चित व्यवहार है का प्रवहण मानव में होता है। यह सर्वांगणीय शिक्षा योजना है जो पुरोहितम् शिक्षा योजना कहलाती है। इसकी निम्न विशेषताएं हैं- १) पुरोहितम् आधारित, २) पीरिएड-पीरिएड न बदलनेवाली, ३) वर्ष-वर्ष न बदलनेवाली, ४) धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष समन्वित, ५) शाश्वत प्राकृतिक मूल्यों पर आधारित, ६) शाश्वत नैतिक मूल्यों पर आधारित, ७) वर्तमान विज्ञान समन्वित तथा ८) वैदिक वैज्ञानिक विधि अर्थात् अ) आप्त-ज्ञान, ब) ब्रह्मगुण अनुकूल, स) आत्मवत व्यवहार अनुकूल, द) प्राकृतिक नियम अनुकूल, ई) पंचावयव (वैज्ञानिक विधि) अनुकूल- १. प्रतिज्ञा (प्राकल्पना-हायपोथीसिस), २. हेतु (अवलोकन), ३. उदाहरण (तथ्य संकलन-सारिणीकरण), ४. उपनय (सत्य-निकटता), ५. निगमन (निष्कर्ष)- पंच विधि आधारित। यह पंच विधि या अवयव पद्धति आधुनिक वैज्ञानिक विधि है, जो आधुनिक विज्ञान की आत्मा है। वैदिक वैज्ञानिक विधि सांतसा की आत्मा है।

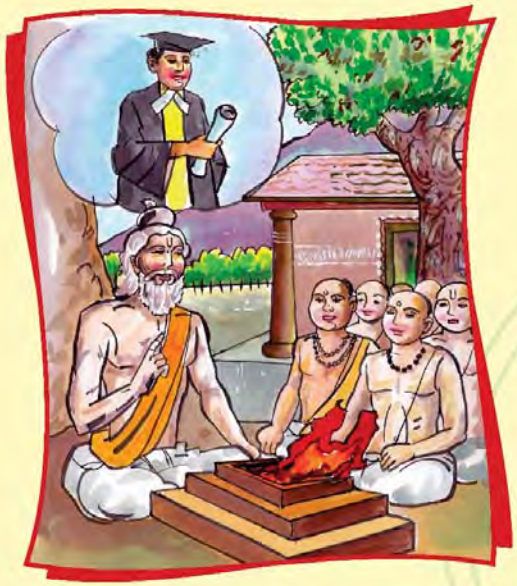

समावर्तन संस्कार

परिणीत युवक, परिणीता युवती, नव्य-नव्य युवक, नव्या-नव्या युवती जो ब्रह्ममय, वेदमय उदात्त विचारों के आधुनिकतम सन्दर्भों के आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक विज्ञानों में निष्णांत हों उनके लिए यह संस्कार किया जाता है।

२४ वर्ष के वसु ब्रह्मचारी अथवा ३६ वर्ष के रुद्र ब्रह्मचारी या ४८ वर्ष के आदित्य ब्रह्मचारी जब सांगोपांग वेदविद्या, उत्तम शिक्षा, और पदार्थ विज्ञान को पूर्ण रीति से प्राप्त होके विद्याध्ययन समाप्त करके घर लौटता था तब आचार्य उसे उपदेश देता था कि तू सत्य को कभी न छोड़ना, धर्म का आचरण सदैव करते रहना, स्वाध्याय में प्रमाद कभी न करना, इत्यादि।

आचार्य का आश्रम द्वितीय गर्भ है जिसमें विद्या-अर्थी का विद्या पठन होता है। समावर्तन संस्कार द्वारा विद्यार्थी संसार में सहजतः सरलतापूर्वक दूसरा जन्म लेता है। मानव का द्विज नाम इसी सन्दर्भ में है। ब्रह्मचारी विद्यार्थी भिक्षाटन-अतिथि व्यवस्था द्वारा समाज के परिवारों से परिचित रहता है। समावर्तन संस्कार करानेवाले स्नातक तीन प्रकार के होते हैं- १) विद्या-स्नातक :- विद्या समाप्त कर बिना विवाह आजीविका कार्य। २) व्रत-स्नातक :- विवाह करके भी विद्याध्ययन जारी रखनेवाला। ३) विद्याव्रत स्नातक :- विवाहबद्ध आजीविकामय जीवन जीनेवाला अर्थात् विद्या अध्ययन एवं ब्रह्मचर्य व्रत की भी समाप्ति।

ब्रह्मचर्य, विद्याव्रत-सिद्ध, सांगोपांग वेद विद्या, उत्तम शिक्षा, उपवेद (विद) ज्ञान या विद्या का सत्तार्थ, लाभार्थ, उपयोगार्थ, विचारार्थ उपयोग ज्ञान तथा वर्तमान विज्ञान को पूर्ण रूप से प्राप्त कर ले तब उस का पठन-समाप्ति पर घर में आना अर्थात् समाज में पुनर्जन्म या द्विज होना समावर्तन संस्कार कहलाता है। इसमें अभिप्राय प्राप्त ज्ञान के मान्य जनों तथा रिश्तेदारों के मध्य कल्याण कारक सम्प्रयोग हैं। गणमान्य माता-पिता, प्रतिष्ठित समाज पुरुषों के आगमन पश्चात् स्नातक को १. आसन, २. पाद्यम्- पग धोने हेतु जल, ३. अर्घ्यम्- मुख धोने हेतु जल, ४. आचमन हेतु जल, ५. मधुपर्क- दही-मलाई-शहद मिलाकर देना। यह स्वागत विधि है।

समावर्तनी के निम्न गुण हैं- १) सागर के समान गम्भीर, २) ब्रह्म-सिद्ध, ३) तप-सिद्ध, ४) महा-तप करता, ५) वेद पठन-सिद्ध, ६)

शुभ गुण-कर्म-स्वभाव से प्रकाशमान, ७) नव्य-नव्य, ८) परिवीत अर्थात् ज्ञान ओढ़ लिया है जिसने और ९) सुमनस। समावर्तन संस्कार में त्रिपाश भक्तिभाव से ब्रह्मचारी मेखलादि का त्याग कर अंग-अंग में ब्रह्म पवित्रता का भाव रखता है। वह सप्तेन्द्रियों के त्रि रूपों में ब्रह्म परितृप्त होता है तथा पंचेन्द्रियों में भी त्रि-सिद्ध होता है। त्रि-सप्त, त्रि-पंच सिद्ध वह द्वादशी होता है। ऐसा समावर्तनी युवक समावर्तनी युवती से विवाह कर अस्तित्व पहचानमय श्रे ठ जीवन का प्रारम्भ करता है। इनका द्वादशी रूप निम्न प्रकार से है।

क्र.	अंग	देव	ऋषि	ब्रह्म
१.	ओऽम् नासिका	गन्ध है ब्रह्म-लयम्	गौतम	पथिवी ब्रह्म
२.	ओऽम् रसना	रस है ब्रह्म-लयम्	इष्टतम	आपो ब्रह्म
३.	ओऽम् चक्षुः	रूप है ब्रह्म-लयम्	जमदग्नि	अग्नि ब्रह्म
४.	ओऽम् त्वक्	स्पर्श है ब्रह्म-लयम्	रोमश	वरुण ब्रह्म
५.	ओऽम् श्रोत्रम्	शब्द है ब्रह्म-लयम्	विश्वामित्र	आकाश ब्रह्म
६.	ओऽम् प्राणः	प्राणन है ब्रह्म-लयम्	विश्वामित्र	खं ब्रह्म
७.	ओऽम् वाक्	वाकन् है ब्रह्म-लयम्	वशिष्ठ	ऋचा ब्रह्म
	यह त्रि-सप्त अवस्था है।			
८.	ओऽम् मनः	मनन है ब्रह्म-लयम्	भरद्वाज	वाजब्रह्म
९.	ओऽम् बुद्धिः	बोध है ब्रह्म-लयम्	कण्व	ध्येयतम
१०.	ओऽम् धीः	ध्यान है ब्रह्म-लयम्	प्रस्कण्व	एकम्
११.	ओऽम् स्वः	स्व-आन है ब्रह्म-लयम्	सच्चित	स्वः
१२.	ओऽम् आत्मा	आत्मन् है ब्रह्म-लयम्	आत्म	आत्मा
	यह त्रि-पंच सिद्ध अवस्था है।			

द्वादशी अस्तित्व द्वादश परितृप्त द्वादश तर्पणमय दिव्य होता है। ऐसे पति-पत्नी १ + १ = १ होते हैं। और आगे संस्कार योजना का नव जीवन के लिए विधान करते हैं।

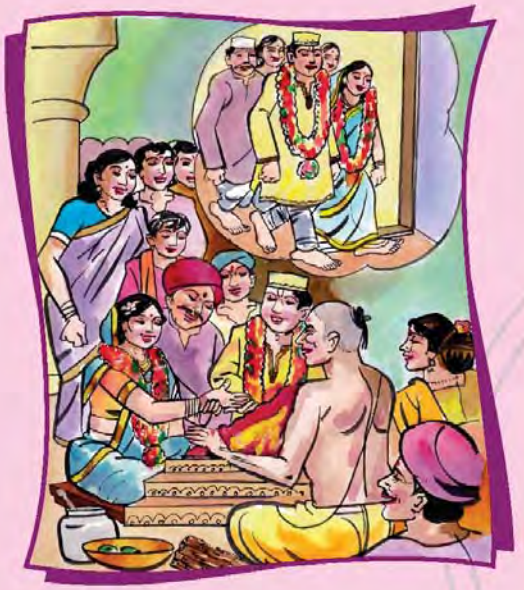

विवाह संस्कार

विद्या, विनय, शील, रूप, आयु, बल, कुल, शरीरादि का परिमाण यथायोग्य हो जिन युवक युवती का उनका आपस में सम्भाषण कर माता-पिता अनुमति से गृहस्थ धर्म प्रवेश विवाह है। अर्थात् पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत विद्या बल को प्राप्त करके, सब प्रकार के शुभगुण-कर्म-स्वभावों में तुल्य, परस्पर प्रीतियुक्त हो, विधि अनुसार सन्तानोत्पत्ति और अपने वर्णाश्रमानुकूल उत्तम कर्म करने के लिए युवक युवती का स्वक्वयनाधारित परिवार से जो सम्बन्ध होता है उसे विवाह कहते हैं।

गृहस्थाश्रम धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष पथ ले जाता अश्व है। यह अविराम गति है, प्रशिक्षित गति है, अवीनामी विस्तरणशील है, कालवत सर्पणशील है, ज्योति है, ब्रह्मचर्य-वानप्रस्थ-संन्यास इन तीनों आश्रमों की आधारवृषा है, उमंग उत्साह से पूर्ण है, वेद प्रचार केन्द्र है, शिशु के आह्लाद उछह का केन्द्र है, परिवार सदस्यों द्वारा शुभ-गमन है, रमणीयाश्रम है, श्रेष्ठ निवास, श्रेष्ठ समर्पण, स्वाहा है यह गृहस्थाश्रम।

परिवार गृहस्थाश्रम व्यवस्था है जिसमें माता-पिता, पति-पत्नी, भाई-भाई, बहन-बहन, भाई-बहन, पुत्र-पुत्री, भृत्य आदि सदस्य समनस्वता, सहृदयपूर्वक, एक स्नहिल बन्धन से युक्त हुए, समवेत श्रेष्ठता का सम्पादन करते, एक अग्रणी का अनुसरण करते, उदात्त संस्कृति का निर्माण करते हैं।

पति-पत्नी की वैदिक संकल्पनानुसार पति ज्ञानी, पत्नी ज्ञानी, पति सामवेद, पत्नी ऋग्वेद, पति द्युलोक, पत्नी धरालोक। पति-पत्नी दुग्ध-दुग्धवत मिलें। प्रज उत्पन्न करें।

विवाह का मूल उद्देश्य है 'वेद-विज्ञ' व्यक्ति 'वेद-विद' हो सके। वेद-विद होने का मतलब है वेद सत्ता के लिए, ज्ञान के लिए, लाभ के लिए, चेतना के लिए तथा धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष सिद्धि के लिए जीवन में उपयोग। वैदिक जीवन ब्रह्मचर्य में चतुर्वेदी होकर गृहस्थ चतुर्वेद सिद्ध करते, वानप्रस्थ में पितर यमलोकी श्रद्धामय होते, संन्यास अवस्था में इसी जीवन में ब्रह्मलयता सिद्ध ब्रह्मलयी होने का नाम है। यह जीवन एक महान् अस्तित्व पहचान योजना है। इस योजना के जीवन यथार्थ होने के अनुपात में ही मानव जीवन में सुखी होता है। इसमें विवाह केन्द्रिय आधार है। गृहस्थ आश्रम अति अधम प्रवृत्तियों से बचाता है। हिरन जैसी चंचलता वृत्ति, बैल जैसी दांत दिखाऊ वृत्ति, गाय जैसी चरन् प्रवृत्ति, कुत्ते जैसी दुमउठाऊ प्रवृत्ति और विधर्म अर्थात् धर्म के अपभ्रंश धर्म को भी घटिया रूप में जीने की प्रवृत्ति इन छै से गृहस्थाश्रम बचाता है। दु:ख यह है कि विवाह संस्कार के अवमूल्यन के कारण आज के गृहस्थी विकृत संन्यासियों के ही समान इन समस्त छै दुर्गुणों को ही अपनाने की राह पर चल पड़े हैं।

आधुनिक विवाह संस्कार की महाविकृतियां :- १) पुरुष-पुरुष स्त्री-स्त्री का विवाह, २) स्त्री-देवमूर्ति विवाह, ३) मानव पशु विवाह, ४) नानी-पोता विवाह, ५) मानव-हिजड़ा विवाह, ६) शालीग्राम-तुलसी विवाह, ७) बालक-बालिका विवाह, ८) आर्य समाज द्वारा पैसे के लालच में कराए जा रहे वासना विवाह, ९) पाश्चात्य में शाम विवाह सुबह तलाक सम्बन्ध, १०) दहेज विवाह, ११) आडम्बर विवाह, १२) पुरुष-राधा-कृष्ण-वर-विवाह धारणा, १३) विश्व सेक्सी पुरुष तथा नारी चयन, १४) उन्मुक्त यौन-पंच-विवाहित जोडे व्यवस्था, १५) विवाह पूर्व यौन सम्बन्ध आदि-आदि विकृतियां विवाह के स्वरूप का कचूमर निकाल दे रहे हैं। और यही कारण है कि विश्व एक आवेग की घिनौनी लहर हो गया है। इसीलिए महान् अस्तित्व पहचान संकट ग्रस्त हो गया है।

अस्तित्व पहचान-दा विवाह का स्वरूप इस प्रकार है- १) हर दिन विवाह हेतु उत्तम दिवस है, ग्रह मुहूर्तादि बकवास हैं। २) वधू-वर के विचार, स्व-भाव, लालन-पालन, कुल-व्यवहार, आयु, शरीर, लक्षण, रूप, आचार, नाम, बल

आदि गुणों की वैदिक वैज्ञानिक विधि द्वारा परीक्षा करके विवाह करना। ३) माता की छै पीढ़ी में तथा गोत्र में विवाह न करना। यह विज्ञान सम्मत तथ्य है कि माता की छै पीढ़ी तथा पिता के सगोत्र विवाह बाद सन्तान अपंग, अपाहिज, कमजोर, रुग्ण, पागल आदि होने की पर्याप्त सम्भावना होती है। ४) ब्राह्म, दैव आदि प्राजापत्य विवाह ही करना। आसुर (दहेज विवाह), गन्धर्व (काम-विवाह), राक्षस (बलात्कार-विवाह), पिशाच (धोका-विवाह) तथा वर्तमान के समलैंगिक, मूर्ति, बच्चा-बच्ची, पोता-नाती, गाय-बैल, कुत्ता-कुत्ती, गधा-गदही आदि-आदि महामूर्ख विवाह कभी न करना। ५) वर-वधू का समयुवा होना। ६) ऋग्वेद के २/३५/४-६, ५/३६/३ तथा ५/४१/७ महर्षि दयानन्द भाष्य के अनुरूप उद्देश्यपूर्ण विवाह। ७) विवाह में देशोन्नति भाव भी हो। ८) विवाह वर-वधू की सहमति तथा परिवार जनों के सहयोग से ही हो। ९) विवाह विधि (अ) स्नान, (ब) मधुपर्क- आसन, जल, मधुमय वातायन-भाव, मधुपर्क प्राशन, (स) त्रि आचमन- अमृत ओढ़ना, बिछाना, गुणामृत जीवन भावना, (द) अंग पवित्र भावना, (ई) वर को द्रव्य देना (गोदान), (फ) कन्या प्रति ग्रहण, (य) वस्त्र प्रदान करना, (र) वर-वधू हाथ में हाथ जल = जल, स्वेच्छ अभिचरण, उच्च संकल्पादि भावमय होना। (ल) विवाहयज्ञ- १. प्रधान होम। २. प्रतिज्ञा विधि वर के हाथ पर वधू का दाहिना हाथ रखकर दोनों सप्त प्रतिज्ञ हों। ३. शिलारोहण। ४. लाजा होम। ५. केश विमोचन। ६. सप्तपदी। ७. जल मार्जन। ८. सूर्यदर्शन। ९. हृदयालम्भन। १०. सुमंगली आशंसन। ११. आशीर्वाद। (व) उत्तर यज्ञ- १. प्रधान होम। २. ध्रुव दर्शन। ३. अरुन्धती दर्शन। ४. ध्रुवीभाव आशंसन। ५. ओदन आहूति। ६. ओदन प्राशन। ७. गर्भाधान। ८. प्रति यात्रा (रथ यात्रा) वापसी (९) वर गृह यज्ञ। (१०) दधि प्राशन। (११) स्वस्तिवाचन- आशीर्वाद। (१२) अभ्यागत सत्कार। (१३) पारिवारिक सुपरिचय।

गृह निर्माण कर्म :- वैदिक वास्तु- १) दिखने में उत्तम। २) द्वार के सम्मुख द्वार। ३) कक्ष के सामने कक्ष। ४) सम चौरस, निरर्थ कोनों से रहित। ५) चारों ओर से वायु प्रवहण। ६) चिनाई तथा जोड़ अटूट-दृढ़। ७) उत्तम शिल्पी द्वारा ग्रथित। ८)

उसमें भंडारण स्थान। ९) पूजन-यजन स्थान। १०) नारी-कक्ष। ११) सभा-कक्ष। १२) स्नान-कक्ष।

१३) भोजन कक्ष। १४) प्राकृतिक प्रकाश। १५) चारों ओर शुद्ध भूमि। १६) द्यावा-द्यौ प्रवेश। १७) पत्नी-व्याप्तिमय- पत्नी सरलतापूर्वक कार्य कर सके जिसमें। १८) समुचित अन्तरिक्ष (आयतन)। १९) अन्य कक्ष। २०) ऊर्जावान्- बल, आरोग्य वृद्धि कारक। २१) समुचित विस्तार मात्र। २२) पोषक अन्न-रस-पयमयी। २३) पारिवारिक, आर्थिक आवश्यकतानुसार- तीन, पांच, सात, नौ, ग्यारह कक्ष युक्त। अन्य कक्ष सभा-कक्ष के इर्द-गिर्द हों। २४) अग्नि स्थान। २५) जल-स्थान।

शाला निर्माण विधि पश्चात् यथाविधि होम कर गृह प्रवेश करे। गृहस्थाश्रम में रहने के नियम इस प्रकार हैं- १. वर्णानुकूल आजीविका हेतु मानक तयशुदा कर्म (धर्म) का पालन। २. पंच यज्ञ करना। ३. पंचीकृत रूप में जीना- ब्राह्मण के लिए ५० प्रतिशत में शत प्रतिशत ज्ञानमय शेष ५० प्रतिशत में साढ़े बारह साढ़े बारह प्रतिशत सार-सार शौर्य, संसाधन, शिल्पमय, सेवामय, इसी प्रकार क्षत्रिय के लिए ५० प्रतिशत में शत प्रतिशत शौर्य तथा साढ़े बारह साढ़े बारह अन्य गुणमय तथा वैश्य, शूद्र द्वारा भी उपरोक्तानुसार आजीविका कार्य में दक्ष होना। ४. नियमित तौर पर आप्त पुस्तकें पढ़ना। ५. विद्यावृद्धों और वयोवृद्धों का अभिवादन। ६. स्वाधीन कर्मों की वृद्धि तथा पराधीन कर्मों का त्याग। ७. सभा नियमों का पालन। ८. करोड़ों अज्ञानियों के स्थान पर एक सज्ञानी का निर्णय मानना। ९. ग्यारह लक्षणों युक्त धर्म का पालन। १०. संगठन उन्नति के कार्य आदि।

गृहस्थ अस्तित्व पहचान में शारीरिक, सामाजिक, दैनिक, मासिक, पाक्षिक, आध्यात्मिक, आजीविका सम्बन्धी आदि सभी छोटे-बड़े कर्मों का विधान है। ऐसा गृहस्थमय सुपात्र निश्चितत: आस्तिक तथा भ्रष्टाचारमुक्त होगा।

१५) वानप्रस्थ :- गृहस्थाश्रम में अक्षमता के स्तर पर अस्तित्व पहचान संकट पैदा होने पर प्रदत्तीकरण (डेलीगेशन) तथा यम, नियम, वियम, संयम (यम-लोक) योगाभ्यास साधना द्वारा आत्मिक क्षमतावृद्धि करना वानप्रस्थ आश्रम है।

वानप्रस्थ संस्कार

विवाह से सुसन्तानोत्पत्ति करके, पूर्ण ब्रह्मचर्य से, पुत्र के विवाह उपरान्त पुत्र की भी एक सन्तान हो जाए, तब व्यक्ति को वानप्रस्थ अर्थात् वन में जाकर, तप और स्वाध्याय का जीवन व्यतीत करने के लिए यह संस्कार किया जाता है। गृहस्थ लोग जब अपने देह का चमडा ढीला और श्वेत केश होते हुए देखे और पुत्र का भी पुत्र हो जाए तो वन का आश्रय लेवे।

वानप्रस्थ करने का समय ५० वर्ष के उपरान्त का है। जब व्यक्ति नाना-नानी या दादा-दादी हो जाए तब अपनी स्त्री, पुत्र, भाई, बन्धु, पुत्रवधु आदि को सब गृहाश्रम की शिक्षा करकेवन की ओर यात्रा की तैयारी करे। यदि स्त्री चले तो साथ ले जावे। नहीं तो ज्येष्ठ पुत्र को सौंप जाए। और उसे कहे कि इसकी यथावत सेवा करना। और अपनी पत्नी को शिक्षा कर जावे कि तू सदा पुत्रादि को धर्म मार्ग में चलाने के लिए और अधर्म से हटाने के लिए शिक्षा करती रहना।

गृहस्थ आश्रम में सन्तानों के पालन, उद्योग, गृहकार्य एवं सामाजिक दायित्वों के चलते आत्मोन्नति के कार्यों के लिए व्यक्ति विशेष समय नहीं निकाल पाता। वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करके व्यक्ति साधना, स्वाध्याय एवं सेवा द्वारा जीवन के चरम लक्ष्य की ओर गतित होने के लिए पूर्ण अवसर मिल जाता है।

भारतीय संस्कृति त्यागमय जीवन का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। वैसे भी जब तीन-तीन पीढ़ियां एक ही घर में रहती हैं तब विचारभेद के चलते झगड़े स्वाभाविक ही हैं। वानप्रस्थ इस समस्या का सटीक उपाय है।

संन्यास संस्कार

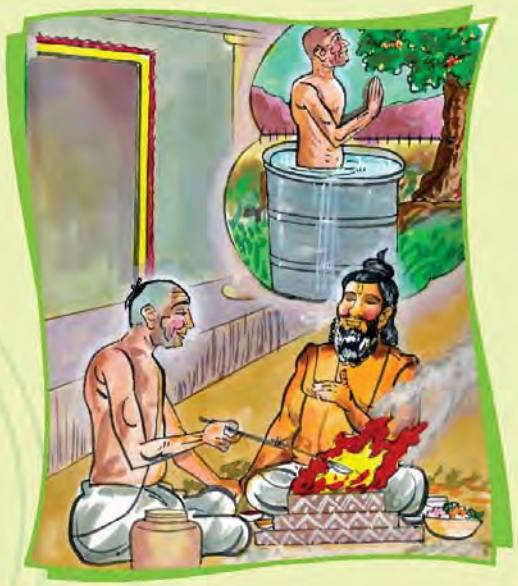

संन्यास = सं + न्यास। अर्थात् अब तक लगाव का बोझ जो उसके कन्धों पर है, उसे उठाकर अलग धर देना। मोहादि आवरण पक्षापात छोड़ के विरक्त होकर सब पृथ्वी में परोपकारार्थ विचरना।

संन्यास ग्रहण के प्रथम प्रकार को क्रम संन्यास कहते हैं। जिसमें क्रमश: ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ होके संन्यास लिया जाता है। द्वितीय प्रकार में गृहस्थ या वानप्रस्थ में जिस दिन वैराग्य प्राप्त होवे उसी दिन, चाहे आश्रम काल पूरा भी न हुआ हो, दृढ़ वैराग्य और यथावत ज्ञान प्राप्त करके संन्यास लेवे। तृतीय प्रकार में ब्रह्मचर्य से सीधा संन्यास लिया जाता है। जिसमें पूर्ण अखण्डित ब्रह्मचर्य, सच्चा वैराग्य और पूर्ण ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त कर विषयासक्ति से उपराम होकर, पक्षापात रहित होकर सबके उपकार करने की इच्छा का होना आवश्यक समझा गया है। संन्यास ग्रहण की पात्रता में एषणात्रय- लोकैषणा, वित्तैषणा, पुत्रैषणा का सवर्था त्याग आवश्यक माना जाता है।

संन्यासी के कर्त्तव्य :- न तो अपने जीवन में आनन्द और न ही अपने मृत्यु में दु:ख माने, किन्तु जैसे क्षुद्र भृत्य अपने स्वामी की आज्ञा की बाट देखता है वैसे ही काल और मृत्यु की प्रतीक्षा करें। संन्यासी इस संसार में आत्मनिष्ठा में स्थित रहे, सर्वथा अपेक्षारहित उसका जीवन हो। मद्य-मांसादि का त्याग करे। आत्मा के सहाय से सुखार्थी होकर सदा सत्योपदेश करता ही विचरे। सब सिर के बाल, दाढ़ी-मूंछ और नखों को समय-समय पर छेदन कराता रहे। पात्री, दण्डी और कुसुम से रंगे वस्त्रों को धारण करे। प्राणीमात्र को पीड़ा न देता हुआ दृढ़ात्मा होकर नित्य विचरे। इन्द्रियों का बुरे कामों से निरोध, राग-द्वेष का क्षय और निर्वैरता से प्रणियों का कल्याण करता फिरे। यदि मुख वा अज्ञानी संन्यासी की निन्दा वा अपमान भी करे तथापि वह धर्म का ही आचरण करे। संन्यासी सम्मान से विष के तुल्य डरे और अमृत के समान अपमान की चाहना करे। यम-नियमों का मनसा-वाचा-कर्मणा पालन अवश्य करे।

अन्त्येष्टि संस्कार

इसका नाम नरमेध, पुरुषमेध या पुरुषयाग भी है। यह मृत्यु के पीछे उसके शरीर पर किया जाता है। संसार में प्रचलित अन्य पद्धतियों में शवदाह की वैदिक पद्धति ही सर्वश्रेष्ठ पद्धति है।

विश्वभर के लोग मरने पर मृतक शरीर को पृथ्वी, जल, अग्नि व वायु इन तत्वों में से किसी एक की भेंट कर देते हैं। जो लोग गाड़ते हैं वे पृथ्वी को, जो जल में प्रवाहित करते हैं वे जल को, जो शव को खुला छोड़ देते हैं वे वायु को प्रदूषित करते हैं।

वैदिक पद्धति से शवदाह के कई लाभ हैं- मृत शरीर को जलाने से भूमि बहुत कम खर्च होती है। कब्रों से स्थान-स्थान पर बहुत सी भूमि घिर जाती है। शवदाह में पर्याप्त घृत-सामग्री के प्रयोग के कारण वायु प्रदूषण का भी निवारण हो जाता है। जबकि गाड़ने से वायु एवं भूमि प्रदूषित ही होती है। कभी कभी कुछ पशु मृत देह को उखाड़कर खा जाते हैं। और रोगी शरीर को खाने से वे स्वयं रोगी बनकर मनुष्यों में भी रोग फैलाते हैं। कभी कुछ कफनचोर कब्र को खोद कर कफन उतार लेते हैं। इस से मृतक के सम्बन्धियों के मनोभावों को ठेस पहुंचती है। संसार में लाखों बीघा जमीन कब्रस्तानों में व्यर्थ जा रही है। मृर्दों को जलाना शुरु करने से यह कृषि या मकान बनाने में काम आ सकती है। कब्रों को कुछ स्वार्थी एवं पाखंडी लोग दरगाह आदि बनाकर भेंट-पूजा, चढावा आदि के माध्यम से आय का साधन बनाकर अन्धश्रद्धालु भोली-भाली जनता को लूटते हैं। अनेक पतित लोग तन्त्र-मन्त्र के नाम पर मुर्दों को उखाड़कर उनके साथ कुकर्म करते देखे गए हैं।

मृतक शव के पंचमहाभूतों को जल्दी से जल्दी सूक्ष्म करके अपने मूल रूप में पहुंचा देना ही वैदिक अन्त्येष्टि संस्कार है। अग्नि द्वारा दाह कर्म ही एक ऐसा साधन है जिससे मृतदेह के सभी तत्व शीघ्र ही अपने मूल रूप में पहुंच जाते हैं।

धर्म

लौकिक, पारलौकिक, सामाजिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा व्यक्तिगत अभ्युदय के उपयुक्त देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकारादि युक्त आत्मा की भूषणभूत सम्यक् नियोजित कर्मप्रणाली का नाम धर्म है।

पूर्ण जीवन को ब्रह्म गुणों के सन्दर्भ में जीना ही वैदिक धर्म है। दूसरे शब्दों में ईश्वर ने वेदों में मनुष्यों के लिए जिसके करने की आज्ञा दी है उसी का नाम धर्म है। अथवा ऐसे भी कह सकते हैं जिस का आचरण करने से इस संसार में उत्तम सुख और मोक्ष सुख की प्राप्ति होती हो उसे धर्म कहते हैं।

निम्न दस लक्षणों से युक्त धर्म हर मानव के लिए सदा परिपालनीय है- १. एक ब्रह्म की ही उपासना तथा वेद का पढ़ना-पढ़ाना। २. प्रत्यक्षादी आठ प्रमाणों से युक्त पंच परीक्षा से सुपरिक्षित सत्य को ही मानना कहना तथा आचरण करना। ३. विद्यादि के लिए ब्रह्मचर्यादि सत्यव्रतों का अनुष्ठान। ४. अपने इन्द्रियों को अधर्म आदि से हटाकर सदा धर्म में स्थिर रखना। ५. अपनी आत्मा व मन को सदा धर्म में स्थिर रखना। ६. वेद ज्ञान तथा शिल्प विद्या से धर्मादि पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि करना। ७. यज्ञों से जगत का उपकार करना। ८. अतिथि का सम्मान और उनसे अपनी ज्ञानवृद्धि करना। ९. सन्तानों का पालन, उन्हें सुशिक्षित एवं धर्मात्मा बनाना। १०. संगति करण द्वारा सुसमाज निर्माण। ये धर्म के दस लक्षण ऋत, सत्य, तप, दम, शम, अग्न्य, अग्निहोत्र, अतिथि, मानुष तथा प्रजा सन्दर्भ में अथर्ववेद १२/५/१-२ के अनुसार कर्तव्य हैं।

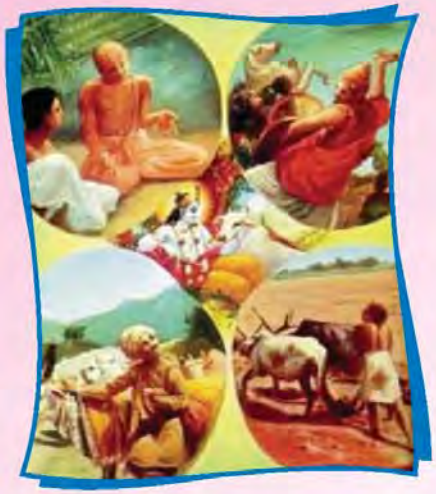

वर्ण

वर्ण शब्द का अर्थ रंग होता है। जीविकोपार्जन हेतु कर्म का रंग वर्ण है। वर्ण व्यवस्था के चार शाश्वत उद्देश्य हैं- १. समाज संगठन, २. व्यक्ति समाज सामंजस्य, ३. व्यक्ति एवं समाज के मध्य कर्तव्यों एवं अधिकारों का समुचित विभाजन, ४. श्रम विभाजन।

वर्ण व्यवस्था चार भागों में विभक्त आश्रम व्यवस्था का एक चरण है। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी एवं संन्यासी का कोई वर्ण नहीं होता। वस्तुतः वर्ण तो गृहस्थ धर्म पालन हेतु चुना गया जीविकोपार्जन क्षेत्र है। स्पष्ट है वर्ण जन्मगत न होकर गुण-कर्म-स्वभाव के अनुरूप चयनित कर्मक्षेत्र है।

चार वर्णों में ब्राह्मण वह है जो विद्यावान होकर वस्तुओं को यथावत जानता, वेद, ईश्वर, मुक्ति, कर्मविधान, ऋत व्यवस्था, धर्म तथा आचार का कर्म विचारमय ज्ञानी होता है। क्षत्रिय वह है जो तेजस्वी होता है, तथा धैर्यवान होकर न्यायपूर्वक ही कर्मों को करता है। शरीर व आत्मा से बलवान होकर उत्तम कर्मों को करना आदि क्षत्रियत्व है। वैश्य वह है जो कृषि, पशु रक्षण, व्यापार, ऋण तथा ऋणादि व्यवस्था करता एवं विद्या हेतु धन व्यय करता है। शूद्र वह है जो श्रम से धनार्जन करे तथा कुछ शिल्प विकसित करे।

वैदिक दैनिक जीवन

वैदिक दैनिक जीवन संस्कारों, आश्रमों, वर्णों की व्यवस्था के व्यक्तिगत, सामाजिक, लौकिक, पारलौकिक समन्वय से पूर्ण होती है। इसका मुख्य क्रम इस प्रकार है- १. जागरण, २. शौच, ३. मुखमार्जन, ४. व्यायाम, आसन, प्राणायाम; ५. स्नान, ६. संध्या, उपासना या ब्रह्मयज्ञ; ७. देवयज्ञ, ८. यज्ञमय (पितृ, बलिवैश्व एवं अतिथि यज्ञमय) स्वल्पाहार, ९. आजीवीकोपार्जन- वर्णाश्रम धर्म, १०. ब्रह्मयज्ञ- संध्या-उपासना, ११. यज्ञमय भोजन, १२. जीविकोपार्जन वर्ण धर्म, १३. ब्रह्मयज्ञ- संध्या-उपासना, १४. देवयज्ञ, १५. सामाजिक कार्य, १६. यज्ञमय भोजन, १७. स्वाध्याय एवं १८. योगनिद्रा- शयन।

आश्रम

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति के लिए शत वर्षीय मानव जीवन को चार भागों में विभक्त कर ऋषि ऋण, पितृऋण एवं ब्रह्म ऋण से उऋण होने के लिए चारों ओर से जिसमें श्रम किया जाता है वह आश्रम है। आश्रम चार हैं ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास।

ब्रह्मचर्य आश्रम में सर्व सत्य विद्याओं का एकाग्र चित्त होकर अध्ययन एवं अनुपालन सीखना, जीवन की समस्त शक्तियों को ओज में संघीभूत करते उनका सुविकास करना और ज्ञानमय उदात्त जीने की कला सीखना होता है। ब्रह्मचर्य रूपी पुख्ता नींव पर गृहस्थ रूपी भवन खड़ा होता है। स्ववर्णस्थ कर्तव्य कर्मों को करते आजीविका प्राप्त करते सुसन्तान निर्माण इस में किया जाता है। वानप्रस्थ संन्यास आश्रम की तैयारी का आश्रम है। साधना, आर्ष ग्रन्थों का स्वाध्याय एवं निष्काम सेवा द्वारा स्वजीवन परिमार्जन तथा मोक्ष की ओर उन्मुख इसमें होना होता है। संन्यास आश्रम में ब्रह्म-निकटता से जीवन चरम लक्ष्य मोक्ष को सिद्ध करते अन्य आश्रमियों को ज्ञान सुवितरण इसके कर्तव्य हैं। संक्षेप में विद्यार्जन सतत श्रम, आजीविकार्जन सतत श्रम, स्वार्जन सतत श्रम तथा ब्रह्मार्जन सतत श्रम ही आश्रम व्यवस्था है।

आश्रम व्यवस्था के निम्न उद्देश्य हैं- १. धर्म अर्थ काम मोक्ष की सिद्धि। धर्म- आत्मवत हर पल, अर्थ- सार-सार ग्रहण, काम- स्नेह विस्तार, मोक्ष- लक्ष्य निकटतम या लक्ष्य अनओझल। २. जीवन के उद्देश्य की क्रमिक सफलता। ३. भोग एवं कर्म सामंजस्य। ४. उम्र भर समाजीकरण का श्रेष्ठ विधान। ५. वर्ण व्यवस्था के दुष्प्रभावों को कम करना।

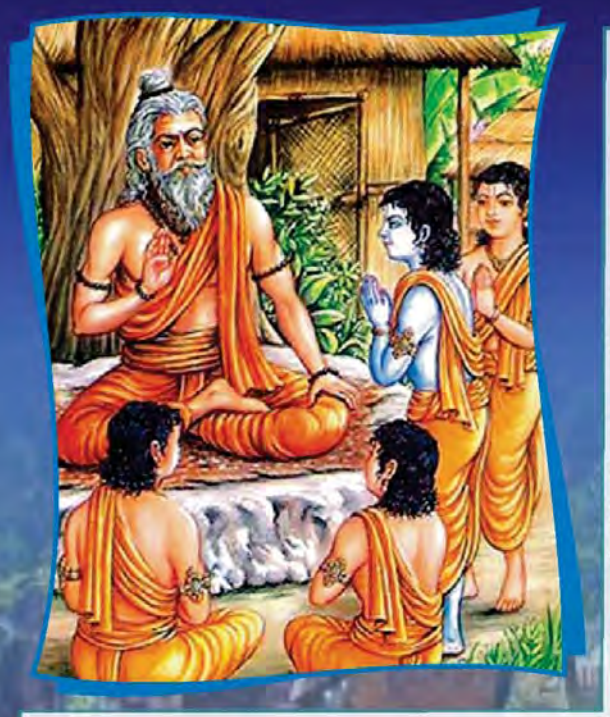

वैदिक शिक्षा क्रम

१. आरम्भ = अ) अष्टाध्यायी व्याकरण भाग- पाणिनी कृत ब) महाभाष्य।

२. मध्यम = अ) निघण्टु, शब्द कोष ज्ञान- यास्क कृत। ब) निरुक्त।

३. मध्य = अ) छन्द ग्रन्थ पिंगलाचार्य कृत, ब) ग्रन्थ रचना प्रक्रिया, स) मनुस्मृति, वाल्मिकीय रामायण, महाभारत, उद्योग पर्वान्तर्गत विदुर नीति।

४. उच्च = अ) पंचदर्शन- मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य। ब) दशोपनिषद- ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय। स) वेदान्त दर्शन- छान्दोग्य, बृहदारण्यक। द) छः शास्त्र- अंगादि। ई) ब्राह्मण- ऐतरेय, शतपथ, साम, गोपथ।

५. उच्चतर = वेद एवं आधुनिक विज्ञान।

६. उच्चतम = इनका जीवन में अवतरण प्रयास एवं आधुनिक विज्ञान से समन्वय।

वैदिक शिक्षण का उद्देश्य इहलौकिक समृद्धि द्वारा मृत्यु को पार करने के पश्चात आध्यात्मिक समृद्धि द्वारा अमृत की प्राप्ति है। क्योंकि मात्र इहलौकिक समृद्धि अन्धे के समान है तथा मात्र आध्यात्मिक समृद्धि लंगडे के समान है। इसलिए वैदिक शिक्षा का उद्देश्य इहलौकिक तथा आध्यात्मिक का जीवन में सन्तुलित संयमन है।

वैदिक संध्या

सम्यक् ध्यान संध्या है। संध्या संयोग है। सम योग का उद्देश्य ब्रह्ममय होना है। संध्या का सरल अर्थ ब्रह्म को दुहना है। ऋग्वेद ८/१/२९ के अनुसार जागृति पश्चात सूर्योदय समय, मध्य दिन में तथा निद्रा के विश्राम पूर्व संध्या करनी चाहिए। संध्या हेतु उपयुक्त स्थान को वेद में उपह्वर कहा गया है। ऐसा स्थान नदियों के किनारे किसी पर्वत गुफा का हो सकता है जहां का ताप १५ से २० सेंटीग्रेट के करीब, गन्ध २० से २५ एकांक, ध्वनि १५ से २० डेसिबल तथा प्रकाश सौम्य हो।

संध्या जिसका नाम ब्रह्मयज्ञ भी है के निम्न चरण हैं- १. आसन- राढ़, गर्दन, शीश सन्तुलित स्थिरं सुखम् आसनम्। २. प्राणायाम- प्राणों के आयामों का सन्तुलन। ३. आचमन- जलवत स्वाभाविक पवित्रता धारण। ४. इन्द्रिय स्पर्श- स्थूल अवयव अंग हैं, आत्म शक्तियां इन्द्रियां हैं। ५. मार्जन- सम्पूर्ण परिष्कार भावना, मार्जन अर्थात् परिशुद्धि। ६. अघमर्षण- ब्रह्मगुण व्यापकता से पाप की भावना को तिरोहित करना। ७. मनसा परिक्रमण- प्रगति, दक्षता, शांति, ऊर्ध्वता, स्थिरता उन्नयन भावनाओं को दिशाओं के माध्यम से मानस में पिरोना। ८. उपस्थान- पूर्ण आयु ब्रह्ममयता। ९. मेधा पवित्रता- ब्रह्मगुण धारण भावना। १०. नमन- पूर्ण को समर्पण द्वारा पूर्णता प्राप्ति भावना। ११. शान्ति- व्यक्ति, समाज, विश्वशांति भावना।

देवयज्ञ

सर्व-परिशुद्धि हेतु स्व समर्पण, वातायन शुद्धि एवं देवस्थ तदाकारता देवयज्ञ है। इस के अग्निहोत्र हवन आदि अन्य नाम हैं। देवपूजा, संगतिकरण एवं दान इसके अन्य अर्थ हैं और उद्देश्य है त्यागन लक्ष्यन एवं संगठन। देवयज्ञ के निम्न चरण हैं। १. आचमन, २. अंगस्पर्श, ३. अग्न्याधान, ४. अग्नि प्रदीपन, ५. समिधादान, ६. पंच घृताहुतियां, ७. जल सेचन, ८. आघारावाज्य भागाहुतियां, ९. प्रधान आहुतिया एवं १०. पूर्णाहुति।

यज्ञ का मुख्य उद्देश्य दो शब्दों द्वारा अभिव्यक्त है- स्वाहा तथा इदन्न मम। स्वाहा के अर्थ हैं- १. दिव्य उत्तम प्रार्थना से अभिभूत होना (निरुक्त ८/२)। २. आत्मा में दिव्य परमात्मा को आहूत करना। (निरुक्त ८/२) ३. प्रतीक समिधादान। ४. स्व-समिधा समर्पण, विस्तरण अर्थात् आत्म समर्पण। ५. सुस्तुतिमय आहुति। तथा इदन्न मम का अर्थ सकारात्मकता है। इसके साथ यज्ञ में हर स्थल पूर्व में स्वाहा का भाव आया हुआ है। यह आहुति अग्नि आदि तेजों के लिए है मेरे लिए नहीं। हे आत्मन् यज्ञ तुझ में वृद्धि करनेवाला है (ऋग्वेद ३/३२/१२) यही देवयज्ञ का प्रमुख उद्देश्य है।

वैदिक गृहिणी

वेदों में नारी की स्थिति अत्यन्त उच्च, गौरवमयी और पूजास्पद है। वेदों के अनुसार वधू पति गृह में दासी बनकर नहीं अपितु साम्राज्ञी बनकर आती है। वेदों में गृहिणी के दिव्य नाम सुशेवा, सुमंगली, अघोरचक्षुणी, शिवा, अपतिघ्नी, वधुरिमा, प्रतरणी आदि है। इन समस्त नामों के अनुरूप जब गशहिणी स्वगश्हकार्य क्रियान्वित करती है तभी वह सफल होती है। गृहव्यवस्था के उद्देश्य हैं १) परिवार जन उन्नयन, २) समय क्षरण बचाव, ३) गृहसदस्य कल्याण, ४) अभिवृद्धिकरण, ५) उल्लंघनकर्ता को दण्ड, ६) सुस्वास्थ्य, ७) पर्यावरण, तथा ८) परिवारजन अभिरक्षण। गृहिणी को अपनी गृहव्यवस्था सुशर्माणम् करनी चाहिए।

सुशर्माणम् घर के तत्व हैं- १) धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष (चार पुरुषार्थ) पथ गमनकर्ता शक्तिमय सतत गतिशील अश्व, २) अविराम ऊर्ध्वगतित, ३) प्रशिक्षित गति, ४) सौहार्द, सेवा, निरोगिता, सुखकर, शान्तिदायक, आनन्ददायक व्यवस्था, ५) अवीनामी अर्थात विस्तरणशील, ६) समय (काल) के समान गतिशील, ७) ज्योति, ८) उमंग, उत्साह प्रवाह भरा, ९) त्रि आश्रम आधार, १०) ज्ञान केन्द्र, ११) शिशु के आह्लाद, उछाह का केन्द्र, १२) परिवार सदस्य शुभगमन, १३) रमणीय, १४) श्रेष्ठ निवास, १५) स्व-हा जहां सब एक दूसरे को समर्पित हों।

"स्योना"

सुखदायिनी व्यवस्था का नाम स्योना है। 'सु-खम्' अर्थ है उत्तम इन्द्रियां। स्योना का अर्थ है इन्द्रियों के लिए उत्तम। घर इतना पॉश होटलवत बहुत सजा हो कि चलते फिरते टेबल लॅम्प, सजावटी मूर्तियां, बस्तर आर्ट के घोडे, नृतक, दीवार उभरे शोकेस, कमरे मध्य सोफा, मोढ़ादि सजावट क्रम ही बाधा बन जाए तो ऐसी व्यवस्था अस्योना होगी। याद रखिए घर घर है होटल नहीं, और होटल होटल है घर नहीं। दोनों के उद्देश्य, नियम, कार्य, सिद्धान्त अलग अलग हैं। डंडे लगी झाडू-पोंछा व्यवस्था ऊंचाइयों तथा पलंगों के नीचे सफाई करने में उपयोगी होने के साथ साथ स्योना भी है। आधुनिक विद्युत धूल शोषक भी इस दृष्टि उपयोगी है पर उनकी 'स्व सफाई' भी समय खाती है। रैकों में भारी सामान नीचे हल्के ऊपर स्योना व्यवस्था है। बर्तन व्यवस्था में विशेष ध्यान रखना है कि निकालते रखते समय न्यूनतम टनटनाएं। भाग्य भरोसे व्यवस्था में बर्तन सामान बहुत गिरते, बहुत टनटनाते, बहुत टूटते हैं। आपके पति यदि प्रशिक्षित अधिकारी या दुकानदार हैं तो उनसे गृहव्यवस्था में सलाह लें। दो मस्तिष्क सामंजस्य में एक से बेहतर होते हैं।

स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये गृहेभ्यः।

स्योनास्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव।। अथर्ववेद १४/२/२७

वसुर जनों को सुख दे, पति को सुख दे, परिवार को सुख दे, सब प्रजा को सुख दे। इन सबकी यथायोग्य सेवा एवं पुष्टि करती रह।

"प्रतरणी वधूरिमा"

वधू वह है जो स्नेह की धाराएं बहाते घर की समृद्धि का कारण बने। वधू के हाथों में बरकत होती है। प्रतरणी का अर्थ है सतत अंकुरणशील। वृद्धि के बीजों से युक्त वृद्धिदायिका तथा उत्तम कर्म खुशबू फैलाती व्यवस्था का नाम है प्रतरणी वधूरिमा। घर में प्रतरणी व्यवस्था के लिए उदात्त पुस्तकें सहज उपलब्ध होनी चाहिएं। ताकि यदा कदा स्वत: लोगों को वशृद्धि के बीजों (उन्नत विचारों) का लाभ मिलता रहे। नागपुर रामदास पेठ में एक पर्यावरण कुटिर है। उस खपरैल घर में आंगन दीवारें पर्यावरण उदात्त वाक्यों से सजी हैं। आप प्रतरणी वधूरिमा हैं। अपने घर को वेद, उपनिषद, ब्राह्मण, आरण्यक, गीता, दर्शन-घर या प्रबंधन, गृहव्यवस्था, सुरक्षादि घर बना सकती हैं।

"देवृकामा"

परिवार सदस्यों की कामनाएं पूर्ण करनेवाली। कल्पना कीजिए घर में किसी को खीर पसंद है। किसी को बड़ी चावल। अलग-अलग बनने पर नोंक झोंक होगी ही। पर देवृकामा मां की व्यवस्था में दोनों की भावनाओं का समुचित आदर होगा तथा दोनों ही बनाना न्यायोचित रहेगा। देवृकामा व्यवस्था की सच्ची परितशृप्ति मां को तब मिलती है जब विवाहित बेटियां या नोकरीपेशा बेटे बाहर से आकर स्व-पसंद की चीजों की देवृकामा व्यवस्था के सन्दर्भ में मनुहार करते हैं।

"स्वरित्राम्"

सुअरित्राम् गृहव्यवस्था वह है जिसके आधारस्तम्भ सुव्यवस्थित तथा सबल हैं। गृहस्थ तीन आश्रमों- ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ तथा संन्यास का आधार है इसके आधार स्तम्भ हैं धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। चारों में सामंजस्य का नाम गृह है। धर्म का मुख्य आधार हैं विद्यार्थी, बच्चे। अर्थ (धर्ममय) का मुख्य आधार है पिता। काम भौतिक शारीरिक प्रतिपूर्ति का मुख्य आधार है गृहणी। मोक्ष का मुख्य आधार है पितर- अतिथि। गृहधुरी होने के कारण गृहिणी को ही बच्चों को स्कूल भेजने, पढ़ने बैठाने, पति के समय पर कार्यालय जाने, संन्यासी, अतिथियों या बड़े बुजुर्गों की सेवादि करनी है। सबको आह्लादित कर स्वयं आह्लादित रहना है। यदि पत्नी कार्यालय में कार्यरत है तो भी उसे सुअरित्राम् व्यवस्था करनी ही चाहिए। वर्तमान युग में इतने भौतिक संसाधन उपलब्ध हैं कि औसतः द्विपेशा गृहस्थ वे संसाधन खरीद सकते हैं, तथा उनके समुचित आयोजन एवं उपयोग से कार्यालयीन गृहिणी कार्यालय रहती सोलर कुकर में खाना पकाती भी रह सकती है। यहां केवल बच्चों को रखने के निर्देश देने हैं। पुड़िंग, ढोकला, उपमादि अर्धपूर्व तैयार खाद्य सहजतः गृहणी अनुपस्थिति में भी पक सकते हैं। शाम को पके पकाए तैयार मिल सकते हैं। ये पौष्टिक, अधिक सुस्वादु भी होते हैं। भुनी शकरकंद, भुनी मूंगफली, भुने आलू, भुने कटलेट, ओषजित तेलदोषमुक्त सुस्वादु होते हैं। बाई को अतिरिक्त समय रखकर भी गृहिणी अपने हाथों का विस्तार करके अतिरिक्त कार्य कर सकती है।

"सुशेवा"

उत्तम सेवा देने वाली। इस व्यवस्था का नाम है सुचिन्तित, नियमबद्ध। गृहिणी यदि गृह में व्यवस्था पूर्व चिन्तित तथा नियमबद्ध है तो वह सुशेवा है। अपने गृहक्षेत्र में गृहिणी सबसे अधिक ज्ञानी होती है, अतः वह उपयुक्त सुशेवा व्यवस्था कर सकती है। एक मैकेनिक द्वारा सुसज्जित टूल बॉक्स सुशेवा व्यवस्था का उदाहरण है। ऑपरेशन थिएटर में डॉक्टरों के सर्जिकल अवजार सुशेवा व्यवस्था का दूसरा उदाहरण है। सेना के अस्त्रकक्ष में रखी हुई अस्त्र व्यवस्था सुशेवा है।

किचन रैक चुनते समय उसके पदार्थ आकार प्रकार के स्थान पर उसके सुशेवा होने पर अधिक ध्यान देना चाहिए। वह "कड़छुल अटक जाए" या "बर्तन भरभरा गिरें" न हों। बर्तन गिरने, टनटनाने, खनखनाने की ध्वनि बड़ी कटु होती है। यह आवाज कई बार आए अतिथियों, पढ़ते विद्यार्थियों, गप्पियाती सखियों, लिखते लेखकों, टी.व्ही.सीरियल देखते परिवार जनों को परेशान कर लड़ाई, मनमुटाव का कारण बनती है। कर्ण कटुता मन कटुता हो जाती है। फर्श या पत्थर पर मांजने के स्थान पर बर्तनमांज-लकड़ी का प्रयोग सुशेवा है।

"अदुर्मंगली व्यवस्था"

भौतिक सुविधाजनक, सामाजिक माधुर्यदायक, आध्यात्मिक आह्लादकारक व्यवस्था का नाम है अदुर्मंगली। यह सुमंगली, वधूरिमा होती है। अदुर्मंगली शब्द में कई शब्द हैं। यथा- अदुर्मंगली, दुर्मंगली, अमंगली, मंगली। इन चारों व्यवस्थाओं पर चिन्तन पश्चात जो व्यवस्था गृहक्षेत्र में लागू की जाती है वह है दुर्मंगली व्यवस्था। मंगली व्यवस्था कहते हैं भौतिक मंगल करने वाली। भौतिक हानीकारक व्यवस्था है अमंगली। एक कम आय वाले सिकुड़े घर में पहले ही वायु संचलनाभाव था, क्योंकि खिड़कियों का अभाव था। रहा सहा वायु प्रवहण तीस हजार रु. मूल्य के कीमती शोकेस द्वारा अवरुद्ध कर दिया गया। यह है अमंगली व्यवस्था। गृहसदस्यों के खराब आदत के कारण घर की व्यवस्था बिखरी हुई, अस्तव्यस्त और सब उसके लिए एक दूसरे को दोष देते लड़ते रहते हों। यह व्यवस्था दुर्मंगली व्यवस्था है।

"औषधया"

औषधया, वानस्पत्या

अन्न का संवाहन ब्रह्म तक है। ब्रह्म है सर्वोत्तम औषध। अन्न औषध है संवहनशील। औषध कहते है उन खाद्यपदार्थों को जो पौधों से एक ही बार प्राप्त होते है। यथा चावल, गेहूं, ज्वार, बाजरा, मक्का एवं सब्जियां। अनाजों का प्रकृति के निकटतम रखते सुखाद्य बना प्रयोग करना औषधया गृहिणी का दायित्व है। चावल, दलिया, दाल, चोकरयुक्त आटादि सुखाद्य प्रयोग है। सब्जियां खड़ी खड़ी अर्धपकी (महाराष्ट्रीयन नारियां जैसे पकाती है) अगर हो तो प्राकृतिक सुखाद्य होती है। कच्ची जो खाई जाएं ककड़ी, खीरा, खरबूजा, टमाटर, सलाद पत्तादि ताजा खाना डॉक्टर को दूर भगाना है। इनमें एन्जाइम गुण भी होते है। धनिया, प्याज, लहसुन, पुदिना आदि के गंध एन्जाइम स्वास्थ्यकर है।

"वानस्पत्या"

जीवन को जिसकी लालसा है वह जल है। सुजल का अन्त्य उदाहरण तत्काल तोड़कर तत्काल निकाला फलों का रस है। फल सारे ही वनस्पति है। एक ही वृक्ष या पौधे से वर्ष दर वर्ष प्राप्त फसल का नाम है वनस्पति। संतरा, मुसम्बी, काजू, ताड़, नारियल, अमरूद, नींबू, कटहल, आम, पपिता, लीची, सेव, सीताफल आदि वनस्पतियां है। जिस गृह में गृहिणी ने खाद्य रूप में वनस्पतियों का कम से कम तैतीस प्रतिशत में प्रयोग किया है तथा बच्चों को भी इनका ग्रहण करना सिखाया है वह गृहिणी वानस्पत्या है।

भोजन नाश्ता परोसने का नियम याद रखें कि सबसे पहले सबसे छोटे को परोसें, फिर सबसे बडे को, फिर अन्यों को। भोजन पकाने में विविधता सर्वोत्तम नियम है। सारी सब्जियों के अलग स्वाद होते है अतः अलग तरह के मसाले उनमें लगते है। जीभ पर अनुगुणित तैतीस रस देवता है। सुगृहिणी गृहसदस्यों के रसदेवताओं को जागृत रखती है। मिश्रता का भरपूर प्रयोग आपको "किंचन रूढ़" होने से बचाएगा।

गोविन्दशान्ति बिंजराजका वटुक विकास केन्द्र, एवं पाणिनीया पाठशाला, अलियाबाद, एक परिचय..

आचार्य भवभूति जी, जो १८ वर्षों तक पहाड़गंज दिल्ली में गुरुकुल का सफल संचालन अनुभव प्राप्त करके २०१२ ईस्वी में अलियाबाद तेलगाणा में वटुक विकास केन्द्र नाम से स्थापना कर संचालन कर रहे हैं। हैदराबाद निवासी बिंजराजका परिवार द्वारा स्थान एवं आवास की व्यवस्था बिंजराजका न्यास की ओर से गुरुकुल को निःशुल्क प्राप्त है। वर्तमान में यहाँ पैतीस छोटे-बड़े ब्रह्मचारी अध्ययनरत हैं। इस वर्ष पाणिनीया पाठशाला नाम से आर्ष पाठ्यक्रम का विभाग भी खोला गया है.. जिसमें अष्टाध्यायी क्रम से महर्षि दयानन्द निर्दिष्ट विधि से अध्यापन व्यवस्था है। इस व्यवस्था में प्रथम सत्र हेतु उक्त पैतीस में से दस विद्यार्थियों ने प्रवेश लिया है।

पांच वर्ष की आयु से ही यहाँ बालक का प्रवेश होता है। आठवीं कक्षा तक की परीक्षाएँ यहीं विद्यालय में ली जाती हैं तथा नौवीं से आगे की परीक्षाएँ सरकारमान्य संस्थाओं से दिलवाई जाती हैं। इस गुरुकुल में आधुनिक विषयों में से अंग्रेजी, गणित, विज्ञान, इतिहास हिन्दी एवं तेलगु भाषाज्ञान के साथ ही आदर्श वैदिक दिनचर्या जिसमें प्रतिदिन ध्यान-आसन-व्यायाम-प्राणायाम, दोनों समय अग्निहोत्र, वेदपाठ, श्लोकगायन, वैदिक ग्रन्थों का स्वाध्याय, आत्मनिरीक्षण आदि कराया जाता है। शुद्ध शाकाहारी भोजन, गुरुकुल की गोशाला से गायों का दूध, फलादि सात्विक एव पौष्टिक भोज्य वटुकों को प्राप्त होता है।

बिना किसी सरकारी अनुदान से चलनेवाले इस गुरुकुल के लिए दानी महानुभावों से सहायता की अपेक्षा की जाती है..!!

आर्यवीर

✣ भापा ✣
स्व.डॉ.त्रिलोकीनाथ जी क्षत्रिय

"मानवता अपनी देवी है,
ज्ञान हमारा भैया है,
मेहनत अपनी बहना है,
धरती माँ की गोदी में,
सत्य जीवन साथी संग,
हरहित जीते रहना है,
"भापा" का यह कहना है।"

सांतसा प्रकाशन
पाणिनीया पाठशाला, आर्ष शोध संस्थान, अलियाबाद, मंडल शामीरपेट, जिला मेडीचल, तेलंगाणा 500101
दूरभाष : 7666986837, 7738244197, E-mail : 1aryaveer@gmail.com, Web. : www.santasa.org